खंड : 1, अंक : 3, अप्रैल-जून, 2021
Volume : 1, Issue : 3, April-June, 2021

प्राग्ज्योतिका
pragjyotika

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की शोध पत्रिका

'मुखौटा-कला' विशेषांक

www.pragjyotikapatrika.com

सूचना

01. यह पत्रिका विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के मानकों के अनुसार 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका है।
02. पत्रिका में प्रकाशित होने वाले लेखों का प्लेगरिज्म (Plagiarism) परीक्षण अनिवार्य है।
03. शोध लेख हिंदी अथवा अंग्रेजी भाषा में होना चाहिए।
04. शोध संदर्भ, तथ्य, वक्तव्य आदि का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
05. शोध लेख मौलिक एवं अप्रकाशित होना चाहिए।
06. लेख में शोध संदर्भों का उपयोग अकादमिक शोध नियमों के अनुपात में होना चाहिए।
07. शोध लेख के साथ लेखक अपना संक्षिप्त परिचय, पासपोर्ट आकार का फोटो, ईमेल तथा मोबाइल नंबर अवश्य लिखें।
08. शोध पत्र 3000 से 5000 शब्दों तक हो सकता है। कंप्यूटर पर अंकित शोध सामग्री ही स्वीकार की जाएगी। इसके लिए हिंदी में यूनिकोड अथवा मंगल फॉन्ट का प्रयोग किया जाए।
09. आप लेख pragjyotikapatrika@gmail.com पर भेज सकते हैं।
10. प्रत्येक अंक की सूचना पत्रिका की वेबसाइट www.pragjyotikapatrika.com पर उपलब्ध रहेगी।
11. शोध पत्रिका की किसी भी सामग्री का बिना अनुमति अन्यत्र प्रकाशित अनुचित होगा।
12. शोध पत्र हमारी विशेषज्ञ समीक्षा समिति (peer & Review committee) के द्वारा द्वि-स्तरीय समीक्षित होकर प्रकाशन हेतु स्वीकृत किया जाता है।
13. पत्रिका के सभी पद अवैतनिक एवं परिवर्तनीय हैं।
14. पत्रिका का प्रकाशन पूर्णत: अव्यवसायिक है।

आवरण पृष्ठ

'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका के आवरण पृष्ठ पर सुशोभित छायाचित्र मुखौटे का है। यह कला असम के कलात्मक वैशिष्ट्य का उत्कृष्ट रूप है। इसकी कलात्मकता को समझने के लिए इस कला के इतिहास को जानना आवश्यक है। इस कला का इतिहास महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित वैष्णव आंदोलन से जुड़ा है। इस आंदोलन को विस्तार देने हेतु तथा जनता को प्रत्यक्ष रूप से आंदोलन से जोड़ने के लिए उन्होंने महाभारत, रामायण आदि के पौराणिक प्रसंगों को आधार बनाकर नाटक लिखे, जिन्हें 'अंकिया' नाटक कहा जाता है। इन नाटकों के मंचन में चरित्रों को जीवंत रूप देने के लिए एवं उनकी विशेषताओं तथा उनमें व्याप्त अंतरों को प्रदर्शित करने के लिए शंकरदेव ने मुखौटों के प्रयोग की नींव डाली। ये मुखौटे मंचन में जहाँ एक ओर पौराणिक और आध्यात्मिक अर्थ रचते हैं, वहीं दूसरी ओर नाटकीयता के तत्वों को भी गहराई प्रदान करते हैं। वर्तमान समय में भी 'मुखौटा-कला' असम की ऐतिहासिक सांस्कृतिक विरासत का अभिन्न अंग है, जिसका प्रयोग अंकिया नाट के साथ रास-उत्सवों, त्योहारों आदि में बहुतायत मात्रा में किया जाता है। यह कला अनवरत रूप से सत्रों में पल्लवित-पोषित हो रही है, जिसमें सामागुरी सत्र सर्वाधिक सक्रिय है। सूती वस्त्र, बेंत, मिट्टी आदि पदार्थों के प्रयोग द्वारा निर्मित होने वाले ये मुखौटे तीन श्रेणी में बांटे जाते हैं। मुख-मुखा, लोटोकोई मुखा तथा बर अथवा चो-मुखा। मुखौटा-कला के क्षेत्र में माजुली का सामागुरी सत्र विश्व प्रसिद्ध है। यहाँ पर मुखौटा कलाकारों की एक लंबी परंपरा रही है। मुखौटा-कला के क्षेत्र में इस सत्र के ऐसे ही एक प्रमुख कलाकर हैं-डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी। हेमचंद्र गोस्वामी मुखौटा-कला के क्षेत्र में एक प्रतिष्ठित कलाकार हैं। हेमचंद्र जी के निर्देशन में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 'भाओना' का प्रदर्शन होता रहता है, जिसमें मुखौटों का बहुतायत मात्रा में प्रयोग होता है। इन सभी मुखौटों की नाटकीय मंचन में अपनी-अपनी विशेषता तथा उपयोगिता है, जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन एवं अध्ययन इस विशेषांक में किया गया है।

खंड : 1, अंक : 3, अप्रैल-जून, 2021

प्राग्ज्योतिका

'मुखौटा-कला' विषेशांक

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की 'पीयर रिव्यूड एंड रेफ्रीड' शोध पत्रिका

संपादक

प्रो. चंदन कुमार

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

सह संपादक

डॉ. सत्य प्रकाश पाल
डॉ. उमेशचन्द्र सिरसवारी
तेजी ईशा
शशि कुमार द्विवेदी

समीक्षा समिति

प्रो. त्रिभुवन प्रसाद

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. प्रकाश नारायण

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007

प्रो. राकेश कुमार उपाध्याय

काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, उत्तर प्रदेश-121005

प्रो. ओकेन लेगो

राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश-791111

डॉ. दिव्यज्योति महंत

कृष्णकांत हांडिक राज्यस्तरीय मुक्त विश्वविद्यालय, गुवाहाटी, असम-781017

डॉ. नरेंद्र शुक्ल

नेहरू स्मारक संग्रहालय एवं पुस्तकालय, दिल्ली-110011

परामर्श मंडल

प्रो. नन्द किशोर पाण्डेय

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, राजस्थान-302004

प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा

प्राचार्य, आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021

प्रो. हरीश कुमार शर्मा

सिद्धार्थ विश्वविद्यालय, कपिलवस्तु, सिद्धार्थनगर, उत्तर प्रदेश-272202

प्रो. हितेंद्र मिश्र

नॉर्थ-ईस्टर्न हिल विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय-793022

प्रो. संजय कुमार

मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल, मिजोरम-796004

डिजाइनिंग एवं टाइपिंग
आविद अली, दिल्ली

कवर डिजाइनिंग
गौरव सिंह, दिल्ली

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली-110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

Volume : 1, Issue : 3, April - June, 2021

Pragjyotika

Peer-Reviewed & Refereed Journal of Literature, Humanities, social science and PerformingArts

Editor

Prof. Chandan Kumar
University of delhi, Delhi-110007

Sub Editor

Dr. Satya prakash Pal
Dr. Umesh chandra sirasawari
Tejee isha
Shashi kumar dwivedi

Peer-Review Committee

Prof. Tribhuwan Prasad
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Prakash Narayan
University of Delhi, Delhi-110007

Prof. Rakesh Kumar Upadhyay
Banaras Hindu University
Varanasi (UP)-121005

Prof. Oken Lego
Rajiv Gandhi University, Itanagar,
Arunachal Pradesh-791111

Dr. Dibyajyoti Mahanta
Krishna Kanta Handiqui State Open
University, Guwahati, Assam-781017

Dr. Narendra Shukla
Nehru Memorial Museum and Library,
New Delhi-110011

Advisory Board

Prof. Nand Kishore Pandey
University of Rajasthan, Jaipur
Rajsthan-302004

Prof. Gyantosh Kumar Jha
Principal,Atmaram Sanatan Dharma
College, Delhi University, Delhi-110021

Prof. Harish kumar Sharma
Siddharth University Kapilvastu,
Siddharth Nagar (UP)-272202

Prof. Hitendra Mishra
North-Eastern Hill University, Shillong,
Meghalaya-793022

Prof. Sanjay kumar
Mizoram University, Aizawl,
Mizoram-796004

Designing And Typing
Avid Ali, Delhi

Cover Designing
Gaurav Singh, Delhi

साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली-110089

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL
STUDIES (CLCS), DELHI- 110089

साहित्य, मानविकी, समाज विज्ञान और प्रदर्शनकारी कलाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका - प्राग्ज्योतिका

प्राग्ज्योतिका, खंडः 1, अंकः 3, अप्रैल-जून, 2021

© **साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)**

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

प्रकाशक : अक्षर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-110090
Akshar Publisher & Distributors, Delhi-110090
Mo. 9711255121

संपादकीय कार्यालय : यूनिट नंबर-108 (प्रथम तल), वर्धमान, एसी मार्केट, सी.एस.सी, ब्लॉक-ई, सेक्टर-18, रोहिणी, दिल्ली-110089 (भारत)

ई-मेल : pragjyotikapatrika@gmail.com

UNIT N0. 108 (1ST FLOOR), VARDHMAN, AC MARKET, C.S.C, BLOCK-E, SECTOR-18, ROHINI, DELHI-110089 (INDIA)

वार्षिक मूल्य : व्यक्तिगत प्रति अंक		: 250
वार्षिक		: 1000
विदेशों में प्रति अंक		: US $ 5
वार्षिक		: US $ 15
संस्थागत वार्षिक		: 1500

मुद्रक : अक्षर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली-110090
Akshar Publisher & Distributors, Delhi-110090
Mo. 9711255121

इस पत्रिका में प्रकाशित लेखकों के मत और स्थापनाओं का 'साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली' व 'प्राग्ज्योतिका' का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए स्वामी/प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है। किसी भी विवाद के निपटारे का न्याय क्षेत्र दिल्ली होगा।

स्वामित्व : साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन केंद्र, दिल्ली (भारत)

CENTRE FOR LITERARY AND CULTURAL STUDIES (CLCS), DELHI, (INDIA)

अनुक्रमणिका

'मुखौटा-कला' विषेशांक

संपादक की कलम से....
प्रो. चन्दन कुमार : 05

1. मुखौटा : आहार्य का अभिनय होना
नंदकिशोर आचार्य : 09
2. मुखौटे, रंगकर्म और आज का जीवन
जयदेव तनेजा : 12
3. मुखौटा-कला और रंगकर्म
प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा : 20
4. लोक नाट्य परंपरा में मुखौटा-कला और महापुरुष माधवदेव
डॉ. अमित सिंह : 28
5. असमिया संस्कृति का एक अन्य पहलू : मुखौटा-कला
माधुर्ज्य कमल हजारिका : 36
6. मुखौटा-कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन
आदित्य कुमार मिश्रा : 41
7. मुखौटा-कला और रंगमंच
सूर्य प्रकाश : 45
8. मुखौटा-कला के विविध आयाम : एक अध्ययन
मीनाक्षी : 50
9. श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों में मुखौटा-कला
पुरबी कलिता : 56

संपादक की कलम से....

'प्राग्ज्योतिका' पत्रिका का यह तीसरा अंक है। विगत दो अंकों की भाँति यह अंक भी सुधी पाठकों के वैचारिक पटल को समृद्ध बनाने में सहायक सिद्ध हो, यही प्रयास है। यह अंक भारत की एक समृद्ध प्रदर्शनकारी विधा 'मुखौटा-कला' पर केंद्रित है। उद्देश्य है-भारत की संपन्न सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण-संवर्धन और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के अनुरूप प्रदर्शनकारी कलाओं के उन्नयन को महत्व प्रदान करना। आपको ज्ञात है कि असम की मुखौटा-कला की अपनी नैसर्गिक विशेषताएं हैं, जो एक कलाप्रेमी और साहित्यानुरागी समाज को अनवरत आकृष्ट करती रहती हैं। मुखौटा-कला पर केंद्रित 'प्राग्ज्योतिका' का यह नवीन अंक इन्हीं भावों को प्रतिध्वनित करता है।

'कला' मानवीय गुणों की भावनात्मक अभिव्यक्ति है। कला सामाजिक जीवन के विकास मूल्यों की सम्यक संरचना का आधार है। कला किसी समाज में पाए जाने वाले उच्चतम मूल्यों और आदर्शों की वह चेतना है जो व्यक्ति को मनुष्य बनाए रखती है। कला सौंदर्यशास्त्रीय सृजनात्मकता का प्रतीक भी है। वास्तव में कलाओं का जन्म ही हुआ है मनुष्यता का विस्तार करने के लिए। जो कला मानवता का प्रसार नहीं कर पाती, वह दीर्घजीवी नहीं होती। नाट्यकला हमारे जीवन का पर्याय है। नाट्यकला की दृश्यात्मकता उसे व्यापक बनाती है। इसी व्यापकता का एक आयाम है मुखौटा-कला। भाषा, संस्कृति, इतिहास, साहित्य, समाज और परंपरा में यह अनेक रूपों में स्थापित है। यह हमारी संपन्न सांस्कृतिक विरासत का जीता-जागता उदाहरण है। यह न सिर्फ असम, बल्कि अखिल भारतीय मानस के सांस्कृतिक आयाम को छूता हुआ एक विशिष्ट कला-रूप है।

उत्सवधर्मिता और सांस्कृतिक संपन्नता भारत की पहचान है। सांस्कृतिक विरासत और विविध कलारूप भारत के उत्सवधर्मी स्वभाव और ऐक्य भाव को दर्शाने का प्रमुख माध्यम है। भारतबोध एक उदाहरण है, जो भारत को विश्व में सांस्कृतिक संपन्नता का प्रतीक बनाता है। यहाँ की भाषा संपन्नता, पांथिक मान्यताएं और समन्वय-भाव भारतभाव को संप्रेषित करते हैं। इसके अलावा रंग-रूप, खान-पान, वेश-भूषा, रीति-रिवाज, पर्व-त्योहार, नृत्य- संगीत, साहित्य-शिल्प, कला-कौशल आदि मामलों में भी यही बोध पाया जाता है। इस सांस्कृतिक संपन्नता को यथेष्ट सम्मान देते हुए भारत को एकता के सूत्र में पिरोये रखना और समरस विकास को बढ़ावा देना, समृद्ध और सक्षम भारत की आवश्यकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि इसी 'सत्र' के अंकिया नाट, भाओना आदि में प्रदर्शित मुखौटा-कला के जरिए ही श्रीमंत शंकरदेव और महात्मन माधवदेव ने जाति, धर्म और संप्रदाय में बिखरे असमिया समाज को एकजुट किया था। अत: इन्हीं आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए मुखौटा-कला जैसी विशिष्ट नाट्य-शैली को समर्पित है यह अंक।

उत्सवधर्मी भारत की सांस्कृतिक पहचान यहाँ के विविध कला रूपों में स्पष्टत: दृष्टिगोचर होती है। अपनी इस सांस्कृतिक विविधता और विरासत के लिए भारत विश्व में जाना जाता है। अपने सांस्कृतिक इतिहास, कला, भाषा एवं परंपरा के प्रति गौरव का भाव ही सही मायनों में भारत को अतुल्य बनाता है। जबकि भारत एक समृद्ध सांस्कृतिक पहचान वाला राष्ट्र है। इसी सांस्कृतिक कर्तव्यभाव से प्रेरित होकर मुखौटा-कला पर संवाद का प्रयास किया गया है ।

ध्यातव्य हो कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भी इस संकल्पना को ध्यान में रखते हुए कहा गया है कि 'संस्कृति के प्रसार का सबसे प्रमुख माध्यम कला है'। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में इस बात पर बल दिया गया है कि कला और संस्कृति 'शिक्षा' के सभी स्तरों

से संबद्ध हो। संस्कृति का संरक्षण-संवर्धन और प्रसार उस संस्कृति की प्रदर्शनकारी कलाओं (नृत्य, संगीत, नाटक), भाषा-साहित्य, विविध शिल्प-कलाओं और परंपराओं के संरक्षण-संवर्धन के बिना संभव नहीं है। अत: इन बातों को ध्यान में रखते हुए 'प्राग्ज्योतिका' का यह अंक 'मुखौटा-कला' पर केंद्रित है।

आप जानते हैं कि असम के मुखौटा-कला की अपनी नैसर्गिक विशेषताएं हैं। असम पूर्वोत्तर भारत का प्रवेश द्वार है। जब हम पूर्वोत्तर के मुखौटा-कला की विशिष्टता की बात करते हैं तो हम वहाँ के वैष्णव आंदोलन तथा सत्र-नामघर की परंपरा को अनदेखा नहीं कर सकते। यही वह वैचारिक आधार हैं, जिसने मुखौटा-कला को पूर्वोत्तर भारत में पल्लवित-पुष्पित और विकसित किया है। मुखौटा-कला के माध्यम से मेरा उद्देश्य पूर्वोत्तर के संस्कार बोध और सांस्कृतिक बोध से पाठकों का परिचय कराना भी है। पूर्वोत्तर भारत का चरित्र सामासिक, सर्वग्राही और बहुलवादी है। इसी अर्थ में यह भारतीय धार्मिकबोध का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रतिनिधित्व इसे हिंदूदाय में मिला है। पूर्वोत्तर के सांस्कृतिक-राग को अगर समझना हो तो असम को, यहाँ के सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन को, यह धार्मिक मूल्यबोध को समझना होगा। पूर्वोत्तर भारत का आध्यात्मिक आंदोलन जिसे नव-वैष्णव आंदोलन भी कहा गया, वह सन् 1350 से लेकर 1650 ई. का है। उत्तर भारत में यह आंदोलन सगुण-निर्गुण भक्ति, राम-कृष्ण भक्ति और सूफी-संत आंदोलन आदि के रूप में पढ़ा जाता है। इस कालखंड में पूर्वोत्तर भारत में शंकरदेव, माधवदेव, राम सरस्वती, अनंत कंदली, श्रीधर कंदली, सार्वभौम भट्टाचार्य, रत्नाकर कंदली, रत्नाकर मिश्र, बदला पद्माता, नारायण आता, दैत्यारी ठाकुर, भूषण द्विज और रामानंद द्विज जैसे कवि सक्रिय रहे हैं। पूर्वोत्तर के जिन कवियों का मैंने उल्लेख किया, वह अकर्मक बुद्धिजीविता के कवि नहीं हैं। सत्र और नामघर असमिया संस्कृति के केंद्रबिंदु हैं। जिसने सत्र नहीं जाना, भाओना नहीं जाना, नामघर नहीं जाना, अंकिया नहीं जाना, वह इन भक्त कवियों का मूल्यांकन नहीं कर सकता है, न ही वहाँ की मुखौटा-कला को समझ सकता है।

'सत्र' सिर्फ भजन-कीर्तन या झाल बजाने की जगह मात्र नहीं है। सत्राधिकार सिर्फ एक धर्मगुरु नहीं है, अपितु एक सामाजिक व्यवस्था है। वह स्वावलंबन और आत्मनिर्भरता की व्यवस्था है। वहाँ सत्रीय नृत्य की शिक्षा दी जाती है, वहाँ भाओना की रंगमंचीय कलाएं सिखाई जाती हैं, मुखौटा-कला सिखाई जाती है, कपड़ा बुनना सिखाया जाता है तथा सामाजिक-पारिवारिक झगड़ों का समाधान किया जाता है। आपको पूर्वोत्तर भारत में ऐसे अनेक परिवार मिल जाएँगे, जो 500 वर्षों से अपने परिवार के एक सदस्य को सत्रों में भेजते रहे हैं। सत्राधिकार धर्मदंड है। वह सत्रों के निवासियों की शिक्षा, स्वास्थ्य, जीवन और सांस्कृतिक-बोध की चिंता करता है। आशय यह है कि मुखौटा-कला पूर्वोत्तर भारत में एक सांस्थानिक स्वरूप में विकसित होने वाली कला है। यही कारण है कि शेष भारत में नाट्यरूपों में प्रयोग होने वाली मुखौटा-कला से यह भिन्न और ज्यादा व्यवस्थित है।

असम के मुखौटा-कला की दूसरी विशेषता है- इसका कथ्य मूलत: धार्मिक चरित्र पर आधारित है। इसमें सात्विक भाव की प्रधानता है। यहाँ वैष्णव भक्ति से जुड़ी कथाओं के पात्रों के चारित्रिक निरूपण पर बल है। इस दृष्टि से भी यह शेष भारत की लोकनाट्य शैलियों में प्रयुक्त मुखौटा-कला से भिन्न है। असम के मुखौटा-कला की तीसरी विशेषता है-निरंतरता। श्रीमंत शंकरदेव से शुरू हुई यह यात्रा 500 साल बाद भी असमिया जनजीवन का स्थायी अंग है। असम के मुखौटा-कला की इसी निरंतरता से पूर्वोत्तर की सांस्कृतिक सातत्यता को समझा जा सकता है। असम के सत्रों में होने वाले मुखौटा-कला की चौथी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसने जाति, वर्ण, धर्म, संप्रदाय में बंटे हुए असमिया समाज को एकजुट किया और वैष्णव भक्ति की राह दिखाते हुए शेष भारत से जोड़ा। ध्यातव्य है कि असम का सत्र, अंकिया नाट, भाओना या मुखौटा-कला मनोरंजन के साधनमात्र नहीं, बल्कि हिंदूभाव को प्रसारित कर पूर्वोत्तर को भारतबोध से संपृक्त करने का एक सांस्कृतिक उपकरण भी है। ऐसी विशेषता भारत भूमि के अन्य क्षेत्रों में व्याप्त मुखौटा-कला में दृष्टिगोचर नहीं होती है। नि:संदेह असम के मुखौटा-कला की विशेषता हमें प्रभावित और प्रेरित करती है।

असम में मुखौटा-कला के प्रथम प्रयोगकर्ता श्रीमंत शंकरदेव और माधवदेव हैं। यह कला अंकिया नाट और

भाओना जैसे नाट्यरूपों में सर्वप्रथम प्रयुक्त हुई। पूर्वोत्तर भारत में यह कला 500 वर्षों से भी अधिक पुरानी है। इसका निर्वहन आज भी माजुली द्वीप और सामागुरी सत्र में कुशलतापूर्वक होता आ रहा है। वर्तमान में रास-उत्सव को माजुली में लगभग 55 स्थानों पर उल्लास के साथ मनाया जाता है जिसमें मुखौटों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। सामागुरी सत्र के प्रसिद्ध मुखौटा-कलाकार डॉ. हेमचन्द्र गोस्वामी पिछले 35 वर्षों से इस कला का नि:शुल्क प्रशिक्षण सत्र में शिष्यों और देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को दे रहे हैं। तात्पर्य यह कि पूर्वोत्तर भारत की मुखौटा-कला सत्र की परंपरा से जुड़े होने के कारण व्यवस्थित और सांस्थानिक है। यहाँ मुखौटा-कला में नवीन प्रयोग भी देखने को मिलता है।

संपूर्ण भारतवर्ष में मुखौटा-कला अव्यक्त को व्यक्त करने की एक नाट्यशैली है। भाव को अभिधा में न कहकर व्यंजना में प्रस्तुत करने की प्रविधि है- मुखौटा-कला। यह नाट्यशैली का ही रूप है। मुखौटा-कला की सार्वभौमिक उपस्थिति रही है। दुनिया के लगभग प्रत्येक समाज और संस्कृति में मुखौटा मनुष्य की कलात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम रही है। भारत का ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है, जहाँ के लोकनाट्य में मुखौटा की उपस्थिति न हो। प्राचीनकाल से ही मुखौटे मनुष्य की विभिन्न वृत्तियों को अभिव्यक्त करने के साधन रहे हैं। मानव स्वभाव में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम अपने चेहरे से व्यक्त नहीं कर पाते हैं, मुखौटा मनुष्य की उसी कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का सुंदर उदाहरण है। स्थूल रूप में कहें तो मुखौटा चेहरे के ऊपर चेहरा लगाना है लेकिन सूक्ष्म रूप में देखें तो यह व्यक्तित्व का रूपांतरण कर यथार्थ को उद्घाटित करने वाला नाट्यशिल्प है। लोक में मुखौटे की उपस्थिति नाटक और रंगमंच के शास्त्रीय विधान से पहले की मानी जा सकती है। यद्यपि भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में अभिनय के जिन चार प्रकारों की चर्चा की है उनमें 'आहार्य' को मुखौटा-कला के सदृश माना जाता है तथापि संस्कृत नाटकों में मुखौटे का सीधा उपयोग न होकर चेहरे रंगने की प्रथा के रूप में प्रचलित रही है। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि मुखौटा लोकनाट्यों की उपज है, न कि शास्त्रीय नाटकों की। इसके बावजूद नाट्यशिल्पों में मुखौटे का उपयोग अनवरत जारी रहा। लोकनाट्यों में तो इसकी प्रचुरता रही ही है, हिंदी नाटकों में भी मुखौटे का सहज उपयोग मंचसज्जा से लेकर अभिनय के विविध रूपों में देखने को मिलता है। तात्पर्य यह कि शास्त्र ने जिस मुखौटे को छद्मवेश के कारण वह सम्मान नहीं दिया, लोक ने उस मुखौटा-कला में विविध प्रयोग किये। कालांतर में यही मुखौटा-कला लोक-शास्त्र सहित समस्त नाट्यशैलियों का निर्विवाद अंग बन गया।

यद्यपि मुखौटा निर्माण एक स्वतंत्र विधा है किंतु समग्रता में मुखौटा-कला नाटक की ही एक प्रविधि है, एक शैली है। भारत में रंगमंच और नाटक की जो स्वरूप, संरचना और निर्माण प्रक्रिया है उसमें लगातार परिवर्तन हुए हैं। समय के साथ परिवेश में हुए परिवर्तनों ने रंगमंच के साथ-साथ मुखौटा-कला को भी प्रभावित किया है।

'प्राग्ज्योतिका' का यह तीसरा अंक मुखौटा-कला के उद्‌भव, विकास, इसके वैश्विक स्वरूप, सैद्धांतिक-पक्ष के साथ-साथ असम की मुखौटा-कला की विशिष्टता तथा भारत के अन्य क्षेत्रों की नाट्यशैलियों में मुखौटा-कला की उपस्थिति को रेखांकित करता है। इस अंक के माध्यम से पाठक मुखौटा-कला की बारीकियों के अतिरिक्त हिंदीरंगमंच और सिनेमा में भी मुखौटा-कला के व्यावहारिक उपयोग से परिचित हो सकेंगे। अध्येता यह भी जान सकेंगे कि मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया क्या है और इसका रख-रखाव किस प्रकार किया जाता है। प्रस्तुत अंक में नंदकिशोर आचार्य, जयदेव तनेजा, प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा, डॉ. अमित सिंह, माधुर्ज्य कमल हजारिका समेत कई विद्वानों और शोधार्थियों के लेख सम्मिलित किये गये हैं। लेखों के चयन में यह ध्यान रखा गया है कि विषय-वस्तु का दोहराव न हो। इसमें सम्मिलित प्रत्येक लेख मुखौटा-कला के एक भिन्न पहलू को दर्शाता है। इसमें पहला लेख है-नंदकिशोर आचार्य कृत 'मुखौटा : आहार्य का अभिनय होना'। इसमें नंदकिशोर आचार्य ने मुखौटा-कला के सैद्धांतिक-पक्ष को स्पष्ट किया है। यहाँ आचार्य जी मुखौटा के छद्मवेशी आवरण को नकारते हुए इसे यथार्थपरक अभिनय के अनुकूल बताते हैं, साथ ही इस प्रश्न से टकराते हैं कि 'आहार्य' तो वस्तुत: सामग्री या उपकरण है जिसे मंचन या अभिनय की सुविधा में इस्तेमाल किया जाता है, फिर उसे अभिनय की ही हैसियत दे देना कहाँ तक

उचित है? नंदकिशोर आचार्य जी का यह विद्वतापूर्ण लेख मुखौटा-कला के सैद्धांतिक पक्ष पर पाठकों की वैचारिक दृष्टि को समृद्ध बनाने वाला है।

इस अंक का दूसरा लेख जयदेव तनेजा कृत 'मुखौटे, रंगकर्म और आज का जीवन' है। इसमें तनेजा जी ने मुखौटा-कला की विश्वव्यापी उपस्थिति को दर्शाते हुए हिंदी नाटकों में मुखौटे के प्रयोग पर समीक्षात्मक टिप्पणी की है। इसके साथ ही उन्होंने भारत में मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया और उसके रख-रखाव की अवधारणा को भी स्पष्ट किया है। इस लेख की विशेषता है कि तनेजा जी आज के जीवन में मुखौटे की महत्ता में हुए दिलचस्प बदलाव की ओर संकेत करते हुए पाठकों के लिए यह सैद्धांतिक प्रश्न छोड़ते हैं कि 'आज के उलझे हुए समय में व्यक्ति की जटिल और दोगली मानसिकता के चलते उसका वास्तविक चेहरा ही जिस कारीगरी और बारीकी से स्वयं एक मुखौटा बन गया-उसे किस दृष्टि से और कैसे पहचाना जाये ?' यह प्रश्न पाठक को झकझोरता है।

इस अंक का तीसरा लेख प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा कृत 'मुखौटा-कला और रंगकर्म' है। अपने इस लेख में ज्ञानतोष कुमार झा लोक और शास्त्र के संबंध की व्याख्या करते हुए मुखौटा-कला को लोक की उपज बताते हैं, साथ ही भारत के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित लोकनाट्यों में मुखौटे के प्रयोग का विवरण भी देते हैं। यह लेख हिंदी रंगमंच के अनेक रंगकर्मियों के प्रसिद्ध नाटकों और फिल्मों में मुखौटा-कला के प्रयोग से परिचित कराता है। डॉ. अमित सिंह का लेख 'लोक नाट्य परंपरा में मुखौटा-कला और महापुरुष माधवदेव' पाठक को लोक और शास्त्र की परंपरा से अवगत कराते हुए लोकनाट्य परंपरा में मुखौटा-कला की क्या जगह है ? इसकी व्याख्या करता है। यह लेख दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में मुखौटा-कला की व्याप्ति के साथ-साथ महापुरुष माधवदेव के व्यक्तित्व-कृतित्व और मुखौटा-कला के विकास में उनकी भूमिका को भी रेखांकित करता है।

इस अंक में संकलित माधुर्ज्य कमल हजारिका का लेख 'असमिया संस्कृति का एक अन्य पहलू : मुखौटा-कला' असम की सांस्कृतिक विरासत के रूप में मुखौटा-कला को स्थापित करता है। असम के नृत्य, गान और नाट्य की चर्चा करते हुए माधुर्ज्य कमल हजारिका सत्र केंद्रित मुखौटों के कई प्रकारों का उल्लेख करते हैं और मुखौटा बनाने की प्रक्रिया भी बताते हैं। आदित्य कुमार मिश्रा का लेख 'मुखौटा-कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन' सत्र, अंकिया नाट, भाओना के साथ मुखौटा-कला के संबंध का विश्लेषण करता है। सातवाँ और आठवाँ लेख क्रमशः सूर्यप्रकाश और मीनाक्षी का है जो कि 'मुखौटा-कला और रंगमंच' तथा 'मुखौटा-कला के विविध आयाम : एक अध्ययन' पर केंद्रित हैं। सूर्यप्रकाश ने अपने लेख में मुखौटा-कला की रंगमंचीय महत्ता को स्पष्ट किया है, वहीं मीनाक्षी ने मुखौटा-कला के विविध आयाम को बताते हुए भारत के विभिन्न राज्यों में होने वाले लोकनाट्यों में मुखौटा-कला के सचित्र प्रयोग को दर्शाया है।

इस अंक का अंतिम लेख है पुरबी कलिता कृत 'श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों में मुखौटा-कला'। चूँकि पुरबी कलिता स्वयं असम की हैं, इसलिए यहाँ श्रीमंत शंकरदेव के व्यक्तित्व और कृतित्व के विश्लेषण में एक भावनात्मक लगाव दिखता है। इस लेख के माध्यम से पाठक शंकरदेव की मूल असमिया भाषा में की गई रचनाओं को पढ़ेंगे और असम में मुखौटा-कला के विकास में उनके योगदान से परिचित हो सकेंगे।

अस्तु 'प्राग्ज्योतिका' का मुखौटा-कला पर केंद्रित यह अंक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है। प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा और डॉ. सत्यप्रकाश पाल ने क्रमशः जयदेव तनेजा जी और नंदकिशोर आचार्य जी के लेखों के पुनर्प्रकाशन की मौखिक अनुमति ली। आभारी हूँ। समस्त विद्वान लेखकों का आभार जिन्होंने अपने महत्वपूर्ण लेखों से इस अंक को समृद्ध किया है। आवरण पृष्ठ के चित्र मेरी माजुली यात्रा के हैं। अंत में 'प्राग्ज्योतिका' के संपादकीय समूह, प्रकाशक और प्रकाशन कर्म से जुड़े मित्रों का आभार।

सादर।

प्रो. चंदन कुमार
संपादक

मुखौटा : आहार्य का अभिनय होना

नन्दकिशोर आचार्य

सामान्य तौर पर 'मुखौटा', 'मास्क' या 'चेहरा लगाने का सत्य, असलियत, यथार्थ या हकीकत पर एक झूठ का पर्दा डालना समझा जाता है–एक बनावट को हकीकत की तरह पेश करना। इसीलिए जब किसी व्यक्ति के बारे में कहा जाता है कि उसके कई चेहरे हैं या उसने शराफत का मुखौटा लगा रखा है तो इसे उसके बारे में एक निंदात्मक टिप्पणी ही माना जाता है। लेकिन कला की विचित्र चारित्रिकता तो इसी बात में है कि वह झूठ, छद्म अथवा बनावट के माध्यम से भी सत्य का, यथार्थ का, हकीकत का ही संप्रेषण करती है। कला मात्र–और इसलिए नाटक भी–अपने स्वरूप में एक बनावट है–चाहे यथार्थ का आभास देने वाली बनावट–यद्यपि उसके होने या रचे जाने का अर्थ ही सत्य का अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण है। भारतीय तत्व–चिंतन की शब्दावली में कहें तो यह एक प्रकार से माया के माध्यम से सत्य की अनुभूति है क्योंकि माया सृजनात्मकता है और उससे गुजरे बिना आत्मानुभूति संभव नहीं है। अंततः यह सृष्टि परम आत्म की स्वानुभूति का ही तो माध्यम है। इसलिए प्रत्येक सृजन माया है, पर, उससे गुजरने पर ही हम आत्मानुभूति कर सकते हैं।

इसीलिए नाटक या रंगमंच में बनावट को सत्य के अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण का माध्यम होने की हैसियत प्राप्त है। रंगमंच या नाटक के लिए मुखौटा एक बनावट होते हुए भी सत्य या हकीकत की अनुभूति और अभिव्यक्ति की एक विधि है–इस तथ्य की पहचान सभी प्रकार के रंगमंचों को प्रारंभ से ही रही है। पश्चिम में नाटक या रंगमंच का प्रारंभ यूनान से माना जाता है। यूनानी देवता डायोनिशस के उत्सवों से ही 'ट्रेजेडी' और लिंग–पूजा संबंधी उत्सवों से कॉमेडी का विकास हुआ है। यह कथन स्वयं अरस्तू द्वारा दिया गया है। इन दोनों ही प्रकार के उत्सवों में 'मुखौटे' या 'चेहरे लगाने की परिपाटी थी और उसी से आगे चल कर अभिनेता के मुँह पर मुखौटे लगाने की परंपरा विकसित हुई। प्राचीन यूनानी नाटकों के प्रदर्शन में पहले एक और बाद में दो या तीन अभिनेता विभिन्न पात्रों के मुखौटे लगा कर अभिनय किया करते थे। एक अभिनेता कई पात्रों का अभिनय करता था, इसलिए वह मंच पर उन पात्रों के 'मुखौटे' या 'चेहरे' लगा कर आता था। यह मुखौटा या चेहरा जहाँ दर्शक–समूह तक विभिन्न पात्रों को संप्रेषित करता था, वहीं स्वयं अभिनेता के लिए भी उस पात्र को अपने में आहूत और अनुभव करने का उपकरण बन जाता था। यह परंपरा रोमन रंगमंच और यूरोप के कई लोकरंगमंचों में भी अपनी प्रभावपूर्ण उपस्थिति और उपयोग दर्ज कराती है चाहे वह इटेलिन प्रहसन हो या पेंटोमाइम।

प्राच्य रंगमंच की कई शैलियों में भी मुखौटे या चेहरे का प्रयोग होता था। जापान की नोह शैली में 'चेहरा' एक अनिवार्य तत्व है, जबकि 'काबुकी' में चेहरे की जगह अब मुँह रँगने का प्रयोग होने लगा है, जो प्रकारांतर से 'मुखौटे' या 'चेहरे' का ही आभास देता है। प्राचीन चीनी रंगमच में भी मुँह की रंगाई इस प्रकार की जाती थी कि वह 'चेहरे की प्रतीति करवा सके। अलग–अलग प्रकार के चरित्रों को व्यंजित करने के लिए अलग–अलग रंगों का इस्तेमाल किया जाता था। भारत के लोकरंगमंच में कई शैलियों में चेहरों का इस्तेमाल किया जाता है, लेकिन संस्कृत रंगमंच और यक्षगान, कूडिअट्टम, कथकलि आदि में मुँह को इस प्रकार रंगा जाता और सजाया जाता है कि वह 'चेहरे' या 'मुखौटे' जैसा प्रतीत होने लगे। स्पष्टतः 'मुखौटे' या

'चेहरे लगाने अथवा चेहरे का आभास देने के लिए मुँह को रंगने से प्रस्तुत चरित्र यथार्थ जीवन से तो कुछ दूर चला ही जाता है और इस तरह प्रेक्षक अभिनेता की दुनिया को एक साक्षी भाव के साथ देख सकता है। कह सकते हैं कि इससे अभिनय में भी एक किस्म की निर्वैयक्तिकता संभव हो जाती है, जो अभिनय की उत्कृष्टता के लिए जरूरी है क्योंकि वैयक्तिक शैली उत्कृष्ट अभिनय या एक अभिनेता द्वारा विभिन्न पात्रों की प्रभावी प्रस्तुति के लिए एक बाधा बन जाती है। लेकिन, दूसरी ओर मुखौटे का होना भी अभिनय की संभावना को एक हद तक सीमित कर देता है क्योंकि उसके मुँह पर लगे होने की वजह से मानवीय भावों की अभिव्यक्ति केवल 'वाचिक' अथवा पद-संचालन और हस्त-संचालन से ही हो सकती है। भौंहों, नेत्र या मुखमुद्राओं आदि का प्रयोग संभव नहीं रहता। भरतमुनि की शब्दावली में कहें तो इस विधि में वाचिक, आहार्य और एक सीमा तक ही आंगिक अभिनय संभव होता है। सूक्ष्म आंगिक और सात्विक अभिनय इसमें संभव नहीं हो पाते। संस्कृत रंगमंच सात्विक अभिनय को केंद्र में रखता है। इसीलिए वहाँ मुखौटे या चेहरे का प्रयोग करने के बजाय मुँह की रंगाई और सज्जा से 'चेहरे का आभास उत्पन्न किया जाता है ताकि 'चेहरे से पूरा होने वाला प्रयोजन भी सध सके और नेत्राभिनय जैसी सूक्ष्म आंगिक क्रियाओं तथा सात्विक अभिनय के लिए भी पूरी गुंजाइश बनी रहे। लेकिन 'मुखौटे' या 'चेहरे का प्रयोग अथवा चेहरे का आभास देने के प्रयोजन से मुँह को रंगने की रीति इस बात को भी स्पष्ट कर देती है कि हमारी परंपरा में 'आहार्य' को भी अभिनय का एक प्रकार क्यों माना गया है? 'आहार्य' तो वस्तुतः सामग्री या उपकरण हैं, जिन्हें मंचन की सुविधा या अभिनय में सहायता के लिए इस्तेमाल किया जाता है। उसे अभिनय की ही हैसियत दे देना कहाँ तक वैध है? उसकी वैधता इस बात में निहित है कि उसके माध्यम से ही तो अभिनेता उस पात्र को अपने में आहूत और अनुभव करता है, जिसका अभिनय उसे करना है इसलिए वह भी उसी तरह के अभिनय का एक प्रकार है, जिस तरह उसकी देह के अंग-प्रत्यंग और उसकी वाणी-यहाँ तक कि उसकी चेतना भी, क्योंकि जब तक चेतना स्वयं अपने को किसी पात्र के रूप में अवतरित होते हुए नहीं देख पाती, तब तक वास्तविक और प्रभावशाली अभिनय संभव ही नहीं है, यही तो अभिनेता के आत्म की सृजनात्मक अनुभूति है। स्वयं के किसी अन्य में रूपांतरित होने के माध्यम से आत्मानुभूति की प्रक्रिया ही तो अभिनय है इसीलिए वह अभिनय होते हुए भी सत्य की अनुभूति और संप्रेषण है। इस दृष्टि से देह भी चेतना के लिए 'आहार्य' ही है। फिर भी यह सवाल बना रहता है कि वह क्या है जिसे सामान्य मानवीय चेहरे से व्यक्त नहीं किया जा सकता। जब हम 'मुखौटे' या 'चेहरे का प्रयोग करते हैं, तब वह सामान्यतः एक सामान्य मानवीय चेहरा नहीं होता। जब संस्कृत रंगमंच में मुँह को रंगा जाता है तो उसका प्रयोजन भी उसे सामान्य और वास्तविक जैसे लगने वाले मानवीय चेहरे से कुछ अलग दिखाना होता है। वह चेहरा कुछ आधि-प्राकृतिक या कहें कि मानवेत्तर लगने लगता है। यदि नाटक का उद्देश्य सत्य, हकीकत या यथार्थ का अनुभूत्यात्मक अन्वेषण और संप्रेषण है तो उसके लिए मानवेत्तर जैसे लगने वाले चेहरे से क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है?

दरअसल, सत्य या यथार्थ के कई स्तर और पहलू होते हैं और उन सबको किसी एक ही विधि से जाना या संप्रेषित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक सत्य या यथार्थ मानवगम्य तो होना चाहिए, होता भी है, लेकिन वह केवल ऐन्द्रिक यथार्थ से बाधित नहीं होता, बल्कि केवल ऐन्द्रिक यथार्थ को मानव-चेतना की आत्मानुभूति और अभिव्यक्ति की सीमा मान लेने पर यथार्थ सपाट और इकहरा हो जाता है जबकि वह वास्तव में इतना जटिल और संश्लिष्ट होता है कि कथित यथार्थवादी पद्धति से उसका अनुसंधान, प्रस्तुति और संप्रेषण संभव ही नहीं हो सकता। भाषा में भी इसीलिए केवल अभिधा सब कुछ जानने-कहने में समर्थ नहीं होती। लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का अधिष्ठान भाषा में इसीलिए किया गया है ताकि वह उस जटिल, बहुआयामी और बहुरूपी सत्य की अनुभूति और अभिव्यक्ति में समर्थ हो सके, जो अभिधा की पहुँच से परे है। वक्रता, अलंकार अथवा बिंबों-प्रतीकों का प्रयोग केवल बाहरी सौंदर्य की रचना के प्रयोजन से नहीं होता, वह तभी सार्थक और वास्तविक अर्थों में सौंदर्यानुभूति करवाने में समर्थ होता है जब उसके माध्यम से हम उस सत्य से साक्षात्कार कर सकें, जो अभिधात्मक भाषा की पकड़ से बाहर रह जाता है। लक्षणा या व्यंजना अथवा बिंब-प्रतीक आदि केवल भाषा की अंतर्निहित शक्तियाँ ही नहीं हैं। प्रकार-भेद से

उनकी उपस्थिति हर कला में देखी जा सकती है। जब नाटक या रंगमंच पर 'मुखौटे' जैसे उपकरणों या कहें कि 'आहार्य' अभिनय को महत्व दिया जाता है तो उसका वास्तविक प्रयोजन उस मानवेत्तर यथार्थ को मानवगम्य बनाना होता है जो मानव-चेतना से तो नहीं किंतु स्थूल मानवीय देह या मुखाकृति की सीमाओं से परे है।

आधुनिक विज्ञान का एक अत्यंत महत्वपूर्ण और क्रांतिकारी निष्कर्ष यह है कि यथार्थ की तद्वत-'एज सच'-पहचान संभव नहीं है। यह बताया गया है कि हम जिस किसी माध्यम से यथार्थ को जानने का उपक्रम करते हैं, उसका माध्यम होना ही यथार्थ के हमारे ग्रहण को, यथार्थ की हमारी पहचान को और इसलिए संप्रेषण को भी अनिवार्यत: प्रभावित करता है अर्थात हमारा जाना गया यथार्थ माध्यम से रूपांतरित यथार्थ है। यह बात जितनी विज्ञान के बारे में सच है उतनी ही कलाओं के संदर्भ में भी। इसलिए यथार्थ की पहचान की विभिन्न ऐन्द्रिक और भाषिक पहचानों की कोई एक विधि नहीं हो सकती। यदि माध्यम यथार्थ को नई पहचान देता अर्थात यथार्थ की नई रचना करता है तो मानना होगा कि बिंबों-प्रतीकों के माध्यम से जाना गया यथार्थ कहीं नहीं हो सकता, जो अभिधा से जाना गया यथार्थ होता है। यदि हर यथार्थ को यथार्थवादी पद्धति से जानना और संप्रेषित करना संभव हो पाता तो साहित्य या कलाओं में फैंटेसी के आविष्कार या प्रयोग की कोई सर्जनात्मक वैधता ही नहीं होती। यही बात नाटक या रंगमंच के बारे में भी कही जा सकती है। यदि केवल मानवाकृति के माध्यम से सब कुछ जाना और संप्रेषित किया जा सकता तो अभिनय के अन्य प्रकारों, विशेषतया वाचिक और आहार्य-की कोई जरूरत ही नहीं पेश आती, लेकिन बहुत कुछ है जो सामान्य मानवीय आकृति से इतर है। एक सीमा तक मानवीय मुख-मुद्राओं से उसे व्यंजित किया भी जा सकता है, लेकिन यह सीमा बहुत संकीर्ण और क्षणिक है। ऐसा बहुत कुछ है जो मानवीय मुखाकृति की सीमाओं से परे है, किंतु मानवीय चेतना से परे नहीं और एक सीमा के बाद मानवीय मुखाकृति उसे सुदीर्घ अवधि तक संप्रेषित नहीं कर पाती। इसलिए मुखौटों या चेहरों के इस्तेमाल की सर्जनात्मक अनिवार्यता महसूस होती है, जिसके बिना हम नाट्यात्मक या अभिनय संभव यथार्थ के कई स्तरों और पहलूओं से अपरिचित रह जाने को विवश हो जाते हैं। इसलिए मुखौटा केवल उपकरण नहीं है, वह एक अभिनय-विधि है-आहार्य के अभिनय होने की वैधता का प्रमाण।

नन्दकिशोर आचार्य
नाटककार, आलोचक एवं अनुवादक

मुखौटे, रंगकर्म और आज का जीवन

जयदेव तनेजा

सामान्यत: जो चीज किसी के मुख को ओट में ले जाए या छिपा दे, उसे 'मुखौटा' कहते हैं। परंतु विशिष्ट अर्थ में मुखौटा वह वस्तु है जो उसे पहनने वाले मुख/चेहरे को छिपाने के साथ-साथ उसे एक नई शक्ल और पहचान भी देती है। मुखौटे के अनुरूप पहने गए वस्त्राभूषणों, उसी के उपयुक्त किये गए अंग-संचालन एवं क्रिया-कलापों और विशेष प्रकार की ध्वनियों तथा संगीत के साथ मिलकर मुखौटा, उसे धारण करने वाले को एक बिल्कुल नया व्यक्तित्व और चरित्र प्रदान कर देता है। प्रतिरूप निर्माण के धार्मिक निषेध के कारण इस्लामिक देशों के अपवाद को छोड़ कर मुखौटों का प्रचलन विश्व के लगभग सभी देशों और विशेषत: ग्रीस, भारत, अफ्रीका, श्रीलंका, जापान, इंडोनेशिया जैसे देशों में अनादिकाल से ही रहा है। देश, काल, जाति, धर्म, प्रदेश, समुदाय और संस्कृति की विविधताओं-भिन्नताओं के अनुरूप मुखौटों के रूप-रंग, आकार-प्रकार और उपयोग में भी भारी अंतर दिखाई देता है। मुखौटे मूलत: आदिवासी जन-जीवन के अभिन्न अंग के रूप में उनके धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक उत्सवों-समारोहों से हमेशा जुड़े रहे हैं। मुखौटा नृत्य आदिवासी और कई देहाती समुदायों का आज भी एक लोकप्रिय सांस्कृतिक क्रिया-कलाप है। विश्वास किया जाता है कि मुखौटों में आधिभौतिक शक्तियों का वास होता है और ये दृश्य और अदृश्य संसार को व्यक्त करने तथा 'आत्म' और 'अनात्म' में संबंध स्थापित करने में भी समर्थ होते हैं। मुखौटे देवताओं, राक्षसों, जानवरों, पौराणिक एवं ऐतिहासिक तथा काल्पनिक चरित्रों की सशक्त अभिव्यक्ति करते हैं। ये भय, दु:ख, क्रोध, हास इत्यादि विभिन्न मानवीय भावों तथा आवेगों को प्रकट करने का माध्यम होते हैं। इन्हें बनाने के लिए लकड़ी, धातुओं, चमड़ा, पत्थर, मिट्टी, कपड़ा, कागज, प्लास्टर ऑफ पेरिस, सजाने के लिए रंग, शंख, सीपी, कौड़ी चूड़ी, हाथी-दाँत, सींग, पंख, फर, सूत, बालों के लिए भेड़, हिरन और घोड़े के बालों तथा दाँतों के लिए चावल, लौकी-पेठा इत्यादि के बीजों तथा जोड़ने-चिपकाने के लिए मधुमक्खियों के मोम की गोंद जैसी सहज उपलब्ध वस्तुओं का बहुत समय तक उपयोग किया जाता रहा। माना जाता रहा है कि मुखौटों में पूर्वजों की आत्मा तथा अन्य अमानुषिक/दैवी प्रबल शक्तियों का वास होता है। इसलिए मुखौटा बनाने वाले को भी आचरण की शुद्धता और धार्मिक अनुशासन का पालन करना पड़ता है। निर्माण प्रक्रिया में निर्दिष्ट अनुष्ठानों, विधि-विधानों, रूढ़ियों इत्यादि को पूरी तरह मानना होता है। मुखौटों के लिए पारंपरिक चित्रावली, सजावट और रंग-संयोजन से बँधे होने पर भी कलाकार के लिए मौलिक सूझ-बूझ की गुंजाइश रहती है।

संसार भर में मुखौटों की एक विचित्र, जादुई, आकर्षक, रहस्यमयी और बहुरंगी अपनी अलग दुनिया है। उनके रूप-रंग, आकार-प्रकार, उनकी उपयोगिता, प्रतीकात्मकता एवं अर्थवत्ता के बहुसंख्य आयाम हैं। इस संदर्भ में 20 फरवरी से 25 मार्च, 1998 को दिल्ली में इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र के माटी घर में डॉ. कपिला वात्स्यायन ने, भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, संगीत नाटक अकादेमी तथा राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के सहयोग से रूप-प्रतिरूप नाम से मुखौटों की एक बड़ी, भव्य और महत्वपूर्ण अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी का आयोजन किया था। उसमें विश्व भर के 21 देशों की विभिन्न सभ्यताओं, संस्कृतियों एवं परंपराओं का प्रामाणिक प्रतिनिधित्व करते सलीके से संयोजित 400 मुखौटों के साथ-साथ भारतीय तथा विदेशी मुखौटा-नृत्यों और ज्ञानवर्धक एवं उत्तेजक संगोष्ठियों का कार्यक्रम भी रखा गया था।

मुखौटों में किसी भी प्रकार की दिलचस्पी रखने वाले व्यक्ति के लिए वह आयोजन निश्चय ही एक सुखकर, महत्वपूर्ण और यादगार जीवन-अनुभव था। इस समारोह ने तमाम विभिन्नताओं के बावजूद मानव-मन के मूलभूत विश्वासों, भावों, सरोकारों, कल्पनाओं और अभिव्यक्तियों के कला-रूपों की सार्वभौमिक एकसूत्रता को खूबसूरती से रेखांकित किया।

'रूप-प्रतिरूप' नामक इस विश्वस्तर की महत्वाकांक्षी प्रदर्शनी की प्रबुद्ध एवं अतिउत्साही जननी डॉ. कपिला वात्स्यायन के अनुसार मुखौटों के होने का पहला संदर्भ या संकेत हमें लगभग 30,000 वर्ष ईसा पूर्व (जिन्हें कुछ इतिहासकार 10,000 वर्ष ई.पू. भी मानते हैं) की चट्टानों पर उकेरे गए चित्रों में ही मिलता है। उसके बाद तो शक्तिशाली मुखौटों का एक अनवरत इतिहास ही मिलने लगता है।

मुखौटों के ठोस और प्रत्यक्ष प्रमाण 2040-1786 ई.पू. से लेकर ईसवी की पहली शताब्दी के बीच प्राचीन मिस्र से मिले हैं। सोने और चाँदी के ये मुखौटे बड़े लोगों के अंतिम संस्कार के समय मृतकों के चेहरों पर लगाए जाते थे। सामान्य जन के चेहरे पर प्लास्टर किए कपड़े के मुखौटे को चित्रित करके लगाने का रिवाज था। रोम में अपने पुरखों के चेहरों पर लगाए जाते थे। मुखौटे मृतक के साथ दफना देने के बजाए संभाल कर रखने की प्रथा थी, जिन्हें वे पारिवारिक समारोहों के समय सम्मान एवं गर्व से प्रदर्शित करते थे। संभवत: मुखौटों का प्राचीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए आत्म-सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा। इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, युद्ध के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हैलमेट) का प्रयोग तो आज भी खूब किया जाता है।

पाषाण युग के आरंभिक, अनगढ़ और कलाक्षीण मुखौटों से लेकर आज के गतिशील हिस्सों वाले मैकेनीकल मुखौटों और प्लास्टिक सर्जरी से बन रहे व्यक्ति के स्थाई नकली चेहरों (मुखौटों) तक मानव जाति के साथ-साथ इन्होंने भी एक लंबी यात्रा तय की है। धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रादेशिक क्षेत्रों में कई मंजिलें पार करते हुए अब इन्होंने आधुनिक जीवन एवं समाज में एक सजावटी वस्तु या कलाकृति के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बना ली है।

मुखौटे लोकजीवन, लोकनृत्य और लोकनाट्य का तो हमेशा से अभिन्न अंग रहे ही हैं, लेकिन शास्त्रीय और आधुनिक नाटकों के साथ भी इनका बहुविध एवं गहरा रिश्ता रहा है। रूपक की बुनियादी शर्त है अभिनेता का रूपांतरण और नाटक तथा मुखौटा दोनों ही इस शर्त को समान रूप से पूरा करते हैं। इसलिए निश्चित और निभ्रांत रूप से यह कह पाना कठिन है कि पहले मुखौटा आया या नाटक? फिर भी, अनुमान ये लगाया जाता है कि अनेक व्यावहारिक कारणों से छठी शताब्दी ईसा पूर्व में यूनानी नाटककार थैस्पिस ने अपनी त्रासदी नाट्य रचनाओं के लिए पहले पहल रंगमंच पर मुखौटों का इस्तेमाल किया। मध्यकाल में 12वीं से 16वीं शताब्दी के बीच उभरे रहस्य-नाटकों में और 15वीं से 18वीं शताब्दी के बीच इटली से चलकर फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड तक पहुँचे कामेडिया-देल-आर्ते के हास्य नाटकों में भी मुखौटों का भरपूर उपयोग होता रहा। जापान में 14वीं शताब्दी में लोकप्रिय हुए नोह नाटकों में 125 तरह के (जिन सबके अलग-अलग नाम हैं) मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। उन्नीसवीं और विशेषत: बीसवीं शती में वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास और प्राचीन एवं लोक संस्कृतियों के ह्रास के कारण, कुछेक अपवादों को छोड़कर, रंगकर्म से मुखौटों का रिश्ता लगातार कमजोर पड़कर टूटता गया और मुखौटा एक कलाकृति अथवा सजावट की चीज बनकर रह गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों में अफ्रीका के आदिवासी और कबीलाई मुखौटों ने फ्रांस और जर्मन चित्रकारों को काफी प्रभावित और प्रेरित भी किया। परंतु कुल मिलाकर आज मुखौटे मुख्यत: कलाप्रेमी पर्यटकों, नुमाइशों या अजायबघरों की चीज बनकर रह गए हैं। नए साल और क्रिसमस की शाम तथा कुछ खास पार्टियों और बच्चों के मनोरंजन के लिए भी मुखौटों की

1. फ्रांस, स्पेन, तंजानियाँ, अल्जीरिया, लीबिया, कजाकिस्तान, मैक्सिको, स्वीडन, पेरू और कनाडा की अनेक गुफाओं तथा कंदराओं में प्रागैतिहासिक मुखौटों के पाषाण-चित्रों (रॉक पेंटिंग्स) के रूप में पुरातत्ववेत्ताओं एवं खोजी इतिहासकारों की काफी सामग्री है। हमारे यहाँ मोहनजोदड़ो-हड़प्पा से टैरेकोटा पर अंकित मुखौटे मिले हैं और मध्य प्रदेश में भोपाल के पास भीमबेटका भी इस दृष्टि से दर्शनीय स्थल बन गया है।

लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। आधुनिक सभ्यता और शहरों में आकर मुखौटों से जुड़ी पवित्रता, आध्यात्मिकता, जादुई शक्ति और रहस्यता पूरी तरह समाप्त हो गई है। अब उनकी ताकत खेत में खड़े विजूके से अधिक नहीं रह गई है। जहाँ तक हिंदी रंगकर्म का प्रश्न है अधिकतर मुखौटों का प्रयोग यहाँ एक मंच उपकरण, प्रतीक या नाटकीय रूढ़ि के रूप में ही किया गया है।

हिंदी नाटकों में चरित्र अथवा प्रतीकात्मक रूप में पशु-पक्षियों के सादृश्यमूलक मुखौटों का इस्तेमाल अधिकांश बाल नाटकों में हुआ है। बिल्ली, बंदर, भालू, चीता, शेर, खरगोश, चूहा, कुत्ता, लोमड़ी, गिलहरी इत्यादि पंचतंत्र और अन्य अनेक बाल कथाओं के चिर-परिचित चरित्र हैं जो पेड़-पौधों, फूल-पत्तियों और चाँद-सितारों की ही तरह कल्पनाशील बाल-मन के बहुत निकट पड़ते हैं। मनोरंजन और शिक्षा के उद्देश्य से, मुखौटों के जरिए, इन्हें मंच पर भरपूर इस्तेमाल किया गया है। परियों और राक्षसों संबंधी नाटकों में भी मुखौटों का पर्याप्त प्रयोग देखने को मिलता है।

डॉ. धर्मवीर भारती का अंधायुग आधुनिक हिंदी नाटक और रंगमंच की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। यूँ तो गांधारी की आँखों पर बँधी पट्टी भी मुखौटे का ही एक रूप मानी जा सकती है। परंतु तीसरे अंक में अश्वत्थामा के अर्द्धसत्य की प्राप्ति के संदर्भ में रचनाकार ने कौए और उल्लू का जो प्रतीकात्मक उपयोग किया है, वह सचमुच बहुत सार्थक और रोचक है। यहाँ काले कपड़े पहने और कौए का मुखौटा लगाए सोए हुए नर्तक शिशु पर उल्लू का मुखौटा लगाए श्वेतवसनधारी नर्तक शिशु के आक्रमण तथा उलूक के वधोल्लास एवं तांडव को देख-सुन कर ही अश्वत्थामा को शिविर में सोए निहत्थे और अचेत पांडवों को मार डालने का विचार आता है। एम.के. रैना ने अंधायुग के प्रस्तुतीकरण में क्रूर नरपशु अश्वत्थामा के पाश्विक चरित्र को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट रूप-विन्यास के साथ-साथ छड़ी वाले एक दुष्ट मुखौटे का भी प्रयोग किया था, जिसे अपने हाथ में पकड़कर अश्वत्थामा (जी.पी. नामदेव) कई अवसरों पर कई तरह से इस्तेमाल करके नाट्यानुभव को सघन एवं तीव्र बनाता है। आषाढ़ का एक दिन में आहत हरिण शावक को बाँहों में लिए कालिदास के मंच पर प्रथम प्रवेश के समय यद्यपि मोहन राकेश ने हरिण शावक के मुखौटे का कोई स्पष्ट निर्देश तो नहीं दिया है, परंतु इतना तो स्पष्ट है कि 'अनामिका' द्वारा 18 सितंबर, 1960 को कलकत्ता के न्यू एम्पायर' तथा 'एशियन ड्रामा सोसाइटी' द्वारा 12 मार्च, 1964 को दिल्ली के सप्रू हाउस में प्रस्तुत इस नाटक के श्यामानंद जालान और प्राणनाथ तुगनैत जैसे यथार्थवाद के प्रति अति उत्साही नाट्य निर्देशकों की तरह कोई भी अनुभवी एवं प्रबुद्ध निर्देशक अब किसी जिंदा हरिण शावक को मंच पर लाने का दु:स्साहस नहीं करेगा। इसी प्रकार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने नाटक सगुन पंछी में यद्यपि नीलकंठ, तोता, मैना और जंगल के अन्य पक्षियों के लिए स्पष्टत: मुखौटों का निर्देश नहीं दिया है, परंतु 11 फरवरी, 1976 को कानपुर के 'मर्चेट्स चेंबर हाल' में बंसी कौल जैसे प्रशिक्षित एवं अनुभवी निर्देशक ने जब इसे प्रस्तुत किया तो नि:संकोच इन सब पात्रों के लिए मुखौटों का ही प्रयोग किया। इनसे स्त्री-पुरुष संबंधों का यह नाट्यप्रदर्शन निश्चय ही अधिक दिलचस्प और जीवंत बन गया है। वैसे भी, बंसी कौल शायद समकालीन रंगमंच के अकेले ऐसे नाट्य निर्देशक हैं जिन्हें मुखौटों या मुखौटों जैसी रूप-सज्जा से बेहद लगाव है। उनके विदूषकीय नाटकों में इसी प्रकार की रूप-सज्जा का अत्यंत रचनात्मक और नाटकीय प्रयोग देखने को मिलता है।

पशु-पक्षियों के मुखौटों की दृष्टि से रंजीत कपूर की खूबसूरत बहू में बैल, एम.एस. सथ्यू की बकरी में बकरी, वाल्फ्रेम मेहरिंग की बिल्ली चली पहनकर जूता में बिल्ली के मुखौटों के प्रयोग दिलचस्प और मनोरंजक होने के साथ-साथ आलेखों की अनिवार्यता भी थी। इसके विपरीत लव लैटर्स और चार दिन में अरुण कुकरेजा ने मुखौटों का इस्तेमाल अपने निर्देशकीय अधिकार का प्रयोग करते हुए प्रदर्शनों को दृश्यात्मक दृष्टि से व्याख्यायित करने और समृद्ध बनाने के लिए किया था। गिरीश कर्नाड के नाटक हयवदन में घोड़े के मुखौटे की तो ऐसी महत्वपूर्ण भूमिका है कि उसके बिना इसकी किसी उल्लेखनीय प्रस्तुति की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अपने पूर्ण होने के लिए बेचैन और दर-दर भटकते हयवदन यानी घोड़े के चेहरे और मनुष्य की देह वाले इस अद्भुत चरित्र की कथा देवदत्त और कपिल के माध्यम से संपूर्ण पुरुष की तलाश करती असंतुष्ट एवं अतृप्त पद्मिनी की आधिकारिक की पूरक है उसके समानांतर ही चलती है। यही नहीं, इस

नाटक में रचनाकार ने प्रमुख चरित्र देवदत्त और कपिल के सिरों की अदला-बदली के लिए भी मुखौटों की ही कल्पना की है, परंतु मजेदार बात ये है कि इस नाटक की अपनी प्रस्तुतियों में लगभग सभी उल्लेखनीय निर्देशकों ने नाटककार के इस निर्देश का पालन नहीं किया। दिल्ली में ब.व. कारंत, मुंबई में सत्यदेव दुबे और कोलकाता में राजिंदर नाथ ने अपने प्रदर्शनों में इस समस्या का हल मुखौटे बदलने के बजाय देवदत्त और कपिल की परस्पर वेषभूषा बदल कर किया। इससे दोनों पात्रों की आवाज संबंधी स्वाभाविकता की रक्षा भी हो गई और इनके लिए मुखौटों की जरूरत भी नहीं पड़ी। बिल्कुल इसी युक्ति का प्रयोग राजिंदर नाथ ने विजय तेंदुलकर के नाटक हत् तेरी किस्मत में भी दो पात्रों के चेहरों की अदला-बदली के लिए भी इसी तरह किया था। वैसे हयवदन पूरी तरह मुखौटों का ही नाटक है। घोड़े, देवदत्त और कपिल के मुखौटों की चर्चा हम कर ही चुके हैं। इनके अतिरिक्त, इस नाटक का आरंभ गणेश-वंदना से होता है, जिसके लिए मंच के बीचों-बीच रखी कुर्सी पर गणेश का मुखौटा रखा जाता है। काली माँ की जीवंत उपस्थिति और वार्तालाप करती दोनों पुतलियों की मुखौटों के बिना भी काम नहीं चलता। अत: स्पष्ट है कि नाटक में मुखौटों के सार्थक एवं नाटकीय प्रयोग की दृष्टि से गिरीश कर्नाड का हयवदन समस्त आधुनिक भारतीय नाटकों में संभवत: सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चर्चित एवं अभिमंचित नाटक है।

नाटककार-अभिनेता-निर्देशक बृजमोहन शाह ने भी अपने नाट्य-प्रदर्शनों में मुखौटों का आकर्षक और अर्थपूर्ण प्रयोग किया है। अपने प्रसिद्ध एवं बहुमंचित व्यंग्यनाटक त्रिशंकु में, उन्होंने कई चरित्रों को उनके वर्ग का प्रतिनिधि बनाने के लिए मुखौटों का इस्तेमाल किया है। लीडर, अफसर, सेठ और मध्यवर्ग की युवती, पुलिस का सिपाही, आफिस का बाबू तथा ज्योतिषी जैसे पात्रों को मुखौटे पहनाए गए हैं। नाटक के मध्य तक पहुँचकर थिएटर वाला अपने सद्य लिखे नाट्यालेख का प्रस्तुतीकरण शुरू करने से पहले यह कहकर कि "आडंबर के अंधे माहौल से उबर कर देखो, हकीकत के धरातल पर उतर कर देखो, पाखंडी मुखौटों को ताक पर रखकर देखो-सब साफ हो जाएगा।" उनके मुखौटे उतरवा देता है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात ये है कि नाटककार शायद बुद्धिजीवी को मध्यवर्ग का (ढोंगी) चरित्र नहीं मानता, इसीलिए उसे मुखौटा नहीं पहनाता। यही स्थिति निम्नवर्ग के पात्रों की भी है। वास्तविकता यह है कि आज के झूठे और मिलावटी समय एवं समाज में किसी भी वर्ग का कोई भी व्यक्ति इस मुखौटा-धर्म से पूरी तरह मुक्त नहीं है। बुद्धिजीवी को उसके वर्ग से अलग करके स्वतंत्र एवं मुखौटाहीन रूप में चित्रित करना एक प्रकार का आत्मछल अथवा पूर्वाग्रह ही है। रचनाकार का यह पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण उसकी सामाजिक-आलोचना तथा जाँच-पड़ताल की वैज्ञानिक तटस्थता को बाधित करता है। मुद्राराक्षस ने दफ्तरी कामकाजी एकरस जिंदगी पर आधारित अपने नाटक योअर्स फेथफुली में अफसर को छोड़कर शेष सभी (तीनों क्लर्क, स्टेनोग्राफर, लड़की, डिस्पैचर और चपरासी) पात्रों के लिए मुखौटों या मुखौटों जैसे चेहरों का निर्देश दिया है। निर्देशक बृजमोहन शाह ने सन् 1972 में जब लिटिल थिएटर ग्रुप के लिए इस नाटक का पहला प्रस्तुतीकरण किया तो उन्होंने दफ्तर के गलाजत भरे वातावरण, मशीनी कार्य-व्यापार और अंधे-अपरिवर्तनीय नियमों-कानूनों को नाटकीय ढंग से साकार करने के लिए सभी कर्मचारियों को सफेदी पुते एक जैसे चेहरे दिए थे। उनके संयोजनों और उनकी गतियों में एकदम ज्यामैट्री की सीधी रेखाओं का तथा मशीनी कार्य-व्यापार के लिए शैलीबद्धता का प्रयोग किया था, नाटककार के निर्देश-संकेत से अलग हट कर शाह ने अफसर को दाढ़ी-मूंछ लगाकर काले चेहरे में प्रस्तुत किया था, क्योंकि वे अफसरशाही की अप्रकट कालिख को मंच पर मूर्त रूप देना चाहते थे, परंतु इस युक्ति से नाट्यालेख की मूल व्यंजना और विडंबना काफी स्थूल एवं अभिधात्मक हो गई, क्योंकि नाटक को पढ़ते समय अंत तक पहुँचते-पहुँचते पाठक एक ऐसी स्थिति से साक्षात्कार करता है जहाँ मुखौटाहीन अफसर मुखौटाधारी और मुखौटाधारी कर्मचारी बेमुखौटा। नजर आने लगते हैं। मुखौटे जैसे रूप-विन्यास का सीमित प्रयोग तो शाह ने सराय की मालकिन, नौकर शैतान मालिक हैरान और गोदो के इंतजार जैसे कुछ अन्य नाटकों में भी किया था। ब.व. कारंत ने आलेख में कोई निर्देश न होने के बावजूद मणि मधुकर के रस गंधर्व में मुखौटों का आकर्षक उपयोग किया था और बरनमवन में चुड़ैलों के मुखौटे भी खूब छाए हुए थे।

कभी-कभी किसी अमूर्त अवधारणा को चरित्र के

रूप में मूर्त करने के लिए भी मुखौटे का इस्तेमाल नाटक में किया जाता है। मणि मधुकर के नाटक खेला पोलमपुर में तीन भूतों पर अतिरिक्त एक काली आकृति भी है। यह काली आकृति वास्तव में मौत महारानी की है। यद्यपि नाटककार ने इस डरावनी आवाजों और भयावह रंग-रूप वाले चरित्र के लिए कोई निर्देश नहीं दिया है, फिर भी यह स्पष्ट है कि कोई भी सूझ-बूझ वाला निर्देशक इस चरित्र के लिए किसी भयोत्पादक मुखौटे का प्रयोग अवश्य करना चाहेगा।

हम जानते हैं कि पूरा चेहरा ढक लेने वाले अचल मुखौटों के कारण अभिनेता को अभिव्यक्ति के लिए पूरे शरीर से काम लेना पड़ता है और यह प्रक्रिया अभिनय को पैंटोमाइम के काफी निकट ले जाती है, परंतु इटली में इस समस्या का समाधान आधे मुखौटों से किया गया। वहाँ विशेष प्रकृति वाले स्थाई चरित्र को दिखाने के लिए आधे मुखौटे का प्रयोग काफी लोकप्रिय हुआ। इससे निरावृत्त निचले जबड़े का स्वाभाविक अभिनय के लिए स्वतंत्र प्रयोग किया जा सकता है। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, रंगमंडल द्वारा प्रस्तुत बादल सरकार के नाटक पगला घोड़ा में निर्देशक सत्यदेव दुबे ने चार लड़कियों की भूमिका करने वाली महिला कलाकार के लिए आधे मुखौटे का ही कल्पनाशील प्रयोग किया था। इस युक्ति से मुखौटे द्वारा सामान्य युवती/नारी के स्थाई चरित्र और चेहरे के निचले अनावृत्त हिस्से द्वारा विशिष्ट लड़कियों के अलग-अलग चरित्रों को अपेक्षाकृत आसानी से प्रस्तुत किया जा सका। इस प्रकार के दिलचस्प प्रयोग हिंदी रंगमंच पर कुछ अन्य निर्देशकों ने सफलतापूर्वक किए हैं। जहाँ तक मुझे याद पड़ता है राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के लिए खड़िया का घेरा प्रस्तुत करते हुए कार्ल वैबर ने भी संभवत: इसी प्रकार के आधे मुखौटों का ही इस्तेमाल किया था।

यूँ तो ज्ञानदेव अग्निहोत्री के बहुमंचित व्यंग्य-नाटक शुतुरमुर्ग में राजा द्वारा पहना गया शुतुरमुर्ग के राज्य-चिह्न वाला मुकुट भी एक प्रकार का मुखौटा या अर्द्ध-मुखौटा ही है, परंतु नाटक के अंत में तो स्वयं नाटककार ने ही चारों मंत्रियों के लिए भयंकर आकृति वाले मुखौटों की योजना की है, जिन्हें देखकर राजा को लगता है कि उनके वास्तविक चेहरे दरअसल नकली चेहरे थे और मुखौटों में उनके असली कुरूप चेहरे प्रकट हुए हैं। मुखौटों और चेहरों के असली-नकली होने की यह विडंबना अत्यंत नाटकीय और दिलचस्प है। सत्यदेव दुबे ने अपनी प्रस्तुति में चारों मंत्रियों को क्रमश: जॉनसन, माओ, स्टालिन और सी.पी.आई. के मुखौटे दिए थे। स्पष्ट है कि निर्देशक अपनी इच्छा और विचारधारा के अनुरूप अथवा तात्कालिक राजनीतिक स्थितियों पर अपनी टिप्पणी करने के लिए इन मुखौटों को कोई भी रूपाकृति प्रदान कर सकता है।

मुखौटों का सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय रूप है-पौराणिक पात्रों के मुखौटे। मौलिक हिंदी नाटकों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कई नाटकों में इनका प्रयोग किया है। वैसे तो महाभारत के पाँचों पांडव चरित्रों पर आधारित उनके नाटक यक्ष प्रश्न में भी कोई निर्देशक यक्ष के लिए उपयुक्त मुखौटे की परिकल्पना सहज ही कर सकता है। परंतु सूर्यमुख में तो स्वयं नाटककार ने ही इनके प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है। कृष्ण पुत्र प्रद्युम्न अपनी सबसे छोटी और हमउम्र माँ वेनुरति के प्रथम दर्शन में ही उससे प्रेम कर बैठता है। यह निश्छल, नैसर्गिक और स्वाभाविक प्रेम धर्म, परिवार और समाज की अतार्किक तथा कठोर मर्यादाओं एवं मान्यताओं के विपरीत पड़ता है। वे दोनों सच्चे और पवित्र प्रेमी धार्मिक-सामाजिक संकीर्ण नियमों-कानूनों से अपमानित, कलंकित और दंडित होते हैं। प्रद्युम्न इन सबसे बचने के लिए मुखौटा लगाकर छद्म रूप में नागकुंड की पहाड़ियों में जा छिपता है। वह स्वयं द्वारिका से आत्म-निर्वासित है। वेनुरती प्रद्युम्न को आग्रहपूर्वक मुखौटा तोड़कर अपने स्वाभाविक सूर्यमुख में प्रकट हो द्वारिकावासियों के भ्रम, संशय दूर करने और अपने विरुद्ध किए जा रहे षड्यंत्र को खत्म करने का आवाहन करती है। जरा की हत्या करके उसका राजनीतिक लाभ उठाने को तत्पर वधू और व्यासपुत्र की क्रूर चुनौती का सटीक उत्तर देने के लिए अंतत: साहसपूर्वक प्रद्युम्न दोनों हाथों से अपने मुखौटे को चीर फेंकता है और जरा को हिंसा विरोधियों के चंगुल से छुड़ा लेता है। चरित्र की वास्तविक पहचान छिपाने के प्रयोजन से यहाँ मुखौटे का अर्थपूर्ण प्रयोग हुआ है। यदुकुल की असंख्य विधवाओं/स्त्रियों को अपने साथ ले जाने के लिए द्वारिका आए अर्जुन का विरोध और अपना शक्ति-प्रदर्शन करने के लिए वभु यदुवंशियों को अर्जुन को घेर कर मुखौटा-नृत्य करने का आदेश देता है। मुखौटा-नृत्य की तीव्र गतियों और आक्रामक मुद्राओं से हतप्रभ होकर अर्जुन वहाँ से

भाग निकलने का प्रयत्न करता है।

नाटककार-निर्देशक अभिनेता डॉ. लाल का नाटक कलंकी तंत्र-साधना के पौराणिक परिवेश और कर्मकांड के माध्यम से आधुनिक जीवन, राजतंत्र और युगबोध के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। स्वभावत: इसमें तांत्रिक और अवधूत जैसे चरित्र आए हैं। नाटककार लाल ने अवधूत को ताड़ के गोल पंखे के पीछे मुँह छिपाए रखने का निर्देश दिया है। यह वास्तव में हेरूप के पिता अकुलक्षेम (की आत्मा) है जो अवधूत के मुखौटे के पीछे अपना असली चेहरा छिपाए है। निर्देशक लाल ने मई 1968 में अपने नाट्य संवाद के लिए इस नाटक को आइफैक्स प्रेक्षागृह में पहली बार प्रस्तुत किया तो अवधूत के लिए ताड़ के गोल पंखे की बजाए उभरी हुई आँखों वाले एक अजीब से अर्द्धचंद्राकार मुखौटे का इस्तेमाल किया था जो उसकी काली वेशभूषा और पैरों की सफेद धारियों के साथ मिलकर एक भयप्रद और रहस्यमय प्रभाव की सृष्टि करता था। उस नाट्य-प्रदर्शन में अवधूत के इस मायावी से मुखौटे, परिधान और तंत्र-मंत्र जैसी ध्वनियों ने नाटक के मिथकीय एवं जादुई प्रभाव को बनाने में निर्णायक भूमिका निभाई थी।

डॉ. प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपने महाभारतकालीन परिवेश के आधुनिक नाटक इला में यद्यपि इला को सुद्युम्न और सुद्युम्न को इला रूप में बदलने के लिए स्त्री और पुरुष दो कलाकारों को प्रयोग करने का निर्देश दिया है, किंतु यदि निर्देशक चाहे तो यहाँ मुखौटे का इस्तेमाल करके एक ही कलाकार से दोनों भूमिकाएँ भी करवा सकता है।

नाटक में मुखौटों के सार्थक एवं प्रभावशाली प्रयोग संबंधी कोई भी चर्चा गिरीश कर्नाड की सुविख्यात नाट्य-कृति अग्नि और बरखा की गंभीर चर्चा किए बिना पूरी नहीं हो सकती। महाभारत के वन पर्व में आई यवक्री और परावसु की अत्यंत संक्षिप्त एवं अवांतर कथा पर आधारित इस नाटक में रचनाकार ने पौराणिक परिवेश और पात्रों के अनुकूल मुखौटों का प्रयोग उनकी प्राचीन महत्ता, शक्ति, पवित्रता और प्रभावशीलता के साथ किया है। मुखौटा यहाँ एक नाट्य- रूढ़ि या युक्ति मात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व और चरित्र है। यूँ तो अग्नि और बरखा का आरंभ ही एक ब्रह्म राक्षस की लगभग नग्न आकृति से होता है, परंतु नाटककार ने उसके किसी मुखौटे का कोई उल्लेख नहीं किया है। मुखौटे का उल्लेख तीसरे अंक के अंत में नाट्य-मंडली द्वारा प्रस्तुत नाटक इंद्र विजय (भगवान इंद्र और वृत्रासुर संग्राम) की तैयारी के दौरान कर्तानट द्वारा अरवसु को वृत्रासुर का मुखौटा और वेशभूषा देने के समय होता है। कनिट अरवस को निर्देश देता है कि, "यह लो। ये वृत्रासुर का मुखौटा है। अब अपने आप को समर्पित कर दो इस मुखौटे को। समर्पित हो जाओ और इसी में चेतन को भरो। हाँ, इतना ध्यान रहे, ज्यों ही तुम मुखौटे को जीवंत करते हो तो उस पर तुम्हें नियंत्रण भी साधना होगा। नहीं तो मुखौटा ही तुम पर चढ़ बैठेगा।" अरवसु अनुभवहीन अभिनेता है, पहली बार अभिनय कर रहा है। वह मुखौटा धारण करते हुए जैसे किसी सम्मोहन में वृत्रासुर का आहवान करते हुए कहता है, "वृत्रा वृत्रा! अकालों का असुर। नदियों को अपने उदर में निगलकर छिपा लेने वाले दानव आ मुझे भर। मैं एक कीट हूँ। अब बन जाने दे मुझको सर्प-अहि। आह मेरा जबड़ा बड़ा कर कि मैं इंद्र को निगल जाऊँ। मुझे जठराग्नि दे ऐसी कि इंद्र को पचा जाऊँ। 'उपसंहार' में मुखौटा जीवंत हो उठता है किंतु अरवसु उसे नियंत्रण में नहीं रख पाता। इसलिए नाटक में जब इंद्र अपने भाई विश्वा (विश्वरूप) से विश्वासघात करके धोखे से उसकी हत्या कर देता है तो वृत्रासुर बना अरवसु इंद्र बने कर्तानट पर आक्रमण का नाट्य करने के बजाए सचमुच हिंसक प्रहार करने लगता है। किसी तरह जान बचा कर भागते कनिट को चुनौती देते हुए वह कहता है कि, "इंद्र, तुम छल तो सकते हो किंतु बच नहीं सकते।" मैं तुम्हें नष्ट कर दूँगा। तुम्हारे इस अशुद्ध अनुष्ठान और यज्ञ का ध्वंस करूँगा मैं। इसके साथ ही वह कृत्रिम नाट्य-संसार से बाहर निकल कर वास्तविक यज्ञ-मंडप को ध्वस्त करने दौड़ पड़ता है। रक्षक के हाथ से मशाल छीन लेता है। कर्तानट राजा के अंगरक्षकों और यज्ञ के रक्षकों से उसे रोकने-पकड़ने का आह्वान करता है, परंतु वृत्रासुर (अरवसु) एक अंगरक्षक की कमर से उसकी दुधारी तलवार खींचकर चिल्लाता है कि, "मैं ब्राह्मण हूँ। यदि तुमने मुझे रोका तो मैं आत्मघात कर लूँगा। तुम सबके सिर ब्राह्मण-हत्या का पाप लगेगा। मैं राक्षस हूँ। जो भी मेरे पथ में बाधा बनेगा, वध कर दूंगा मैं उसका। कहाँ है इंद्र ?... इंद्र।" वह यज्ञ मंडप में आग लगा देता है। चारों ओर भगदड़ और कोहराम मच जाता है। उसे रोक और पकड़ पाने में असमर्थ अंगरक्षकों

को लगता है कि वह कोई मनुष्य नहीं मायावी राक्षस है, जो हवा में तिरता है और पलक झपकते ही धूम्रवलय में विलीन हो जाता है, लेकिन अनुभवी और अभिनय-सिद्ध कर्तानट जान जाता है कि वास्तव में यह अरवसु नहीं है, "यह मुखौटा है, मुखौटा। मुखौटा जीवंत हो उठा है। उसका विसर्जन नहीं किया गया तो अनाहूत प्रलय होगी।" लेकिन सभी भयभीत, आतंकित और विवश हैं। ऐसे में अरवसु की करुणामयी और साहसी प्रेमिका नित्तिलाई आकर कोमलता से उसका मुखौटा उतार कर उसे स्वस्थ एवं स्वाभाविक मानवीय धरातल पर ले आती है। अरवसु और वृत्रासुर के मुखौटे के अंत:संबंध आज के पाठक-दर्शक के लिए काफी जटिल, दुर्बोध यानी अविश्वसनीय से प्रतीत होते हैं। एक स्थिर और जड़ मुखौटा किसी प्राणधारी अभिनेता पर हावी होकर उसे अनचाहे एवं अकरणीय कृत्य करने पर कैसे विवश कर सकता है। इसे बुद्धि और तर्क से समझना-मानना बेहद मुश्किल है। प्राय: चमत्कारों के उत्तर विज्ञान के नहीं सहज आस्था और विश्वास के पास होते हैं। मुखौटे के जीवंत हो उठने की पहेली या समस्या को सुलझाने के लिए हमें मुखौटे-निर्माण की पारंपरिक प्रक्रिया पर ध्यान देना होगा। हमारे यहाँ मुखौटा धर्म, अध्यात्म और अनुष्ठान से जुड़ा था। उसके निर्माण में विधि-विधान का पूरा पालन करना पड़ता था। इन्हें बनाने वाले आम व्यक्ति नहीं, बल्कि विशिष्ट श्रद्धावान आस्तिक कलाकार होते थे। किसी खास तीज-त्योहार के दिन पूजा करने के बाद ये कलाकार जंगल में जाकर मुखौटे के उपयुक्त लकड़ी का चुनाव करते थे। मुखौटा-निर्माण की प्रक्रिया इस प्रकार नियोजित की जाती थी कि वह किसी पूर्वनिर्धारित शुभ-दिन पर ही बनकर तैयार होता था। इस सारी प्रक्रिया के दौरान इन्हें बनाने वाले को व्रत रखकर मन, वचन, कर्म से शुद्ध एवं पवित्र जीवन जीना पड़ता था। मांस-मदिरा का पूरी तरह निषेध किया गया था। विश्वास था कि पूरी आस्था, शुद्धता और विधि-विधानपूर्वक बनाए गए मुखौटे में महान आत्मिक और पारलौकिक शक्तियों का वास होता है। मान्यता रही है कि मुखौटा-निर्माता, मुखौटाधारी और मुखौटे के बीच आत्मिक शक्ति और आध्यात्मिक ऊर्जा का परस्पर आदान-प्रदान होता रहता है। कभी-कभी इनकी जादुई शक्तियों से प्रेक्षक भी स्वयं को अभिभूत-सा अनुभव करता है। ये शक्तियाँ दैवी यानी सकारात्मक भी होती हैं और राक्षसी यानी नकारात्मक भी। अभिनेता और मुखौटे के बीच शक्ति-संतुलन का बने रहना अनिवार्य है। यदि कभी मुखौटा अपनी अलौकिक शक्ति से दुर्बल इच्छा-शक्ति वाले अभिनेता पर हावी हो जाता है तो परिणाम वैसा ही होता है, जैसा कि अग्नि और बरखा में वृत्रासुर का मुखौटा अरवसु को अपने काबू में करके उसे सब कुछ तहस-नहस करने पर बाध्य कर देता है। प्राचीनकाल में इसी प्रकार के शक्तिशाली जीवंत मुखौटों का प्रयोग पूजा-पाठ, तंत्र-मंत्र, चिकित्सा, भूत-प्रेत, टोने-टोटके और भविष्य-कथन इत्यादि के क्षेत्र में भी अक्सर किया जाता था। इनके रखरखाव और विसर्जन वगैरह का काम भी पूरे अनुष्ठान एवं निर्धारित विधि-विधान के साथ ही किया जाता था। उस समय मुखौटे, लकड़ी, धातु, कागज-कपड़ा जैसी सामग्री से बने और विचित्र रंग-रूपों में चित्रित की गई कुछ आकर्षक जड़ वस्तु मात्र न होकर जीवित शक्ति-पुंज हुआ करते थे। गिरीश कर्नाड ने इसे इसके उसी पारंपरिक मूल रूप में ही प्रयोग किया है, परंतु इस नाटक की महत्ता केवल 'मुखौटे' के इस मौलिक और रचनात्मक प्रयोग के कारण ही नहीं है। यहाँ नाटककार ने, अपने अन्य नाटकों की तरह, इंद्र और वृत्रासुर की कथा के समांतर अरवसु और परावसु के जटिल संबंधों की रचना की है। अरवसु के अवचेतन में अपने हत्यारे और विश्वासघाती भाई परावसु के प्रति जो दमित प्रतिशोध-ग्रंथि है-वही अवसर पाकर वृत्रासुर के मुखौटे के बहाने इंद्र के ही प्रतिरूप बने परावसु और उसकी प्रतिष्ठा के प्रश्न-यज्ञ-को नष्ट-भ्रष्ट कर देती है। स्थिति की यह गहन नाट्य-विडंबना मुखौटे के प्रयोग को सार्थक और नाटक को महत्वपूर्ण बनाती है। इस बिंदु पर आकर कल्पना और यथार्थ तथा मुखौटे और अरवसु के चरित्र अत्यंत दिलचस्प एवं नाटकीय ढंग से परस्पर गड्ड-मड्ड होकर सत्य की अनूठी अभिव्यक्ति करते हैं।।

आज के समय और समाज में मनुष्य आत्मकेंद्रित और द्विधाविदीर्ण होकर विभाजित मानसिकता वाले व्यक्ति में तब्दील हो गया है। आज की द्रौपदी को पति के रूप में पाँच अलग-अलग पुरुषों (पांडवों) के साथ नहीं रहना पड़ता, बल्कि एक ही पुरुष के पाँच यानी विभिन्न रूपों को एक साथ झेलना पड़ता है। इसी विखंडित व्यक्तित्व को रंगमंच पर साकार करने के लिए सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक द्रौपदी में सुरेखा के पति मनमोहन

खन्ना के साथ चार मुखौटाधारियों का भी प्रयोग करते हैं। यहाँ मुखौटों या नकाबों की आकृतियाँ नहीं, उनके रंग महत्वपूर्ण हैं। नकाबों के रंगों का रचनाकार ने प्रतीकात्मक इस्तेमाल किया है। पीले नकाबवाला व्यक्ति मनमोहन के सीनियर असिस्टेंट मैनेजर के रूप को व्यक्त करता है, जहाँ वह अपने दफ्तर, पद, काम और अपनी तरक्की के अलावा और कुछ भी जानता-समझता नहीं है। काले नकाबवाला उसके तामसिक रूप का प्रतिनिधित्व करता है, जो उसे व्यक्तिगत भौतिक उपलब्धियों एवं महत्वाकांक्षाओं को पूरा करने के लिए चोर, बेईमान, झूठा, खुदगर्ज और जलील बनने पर मजबूर करता है। शराब, सिगरेट और हंटर (सत्ता-शक्ति) उसके अभिन्न अंग हैं। लाल नकाबवाला मनमोहन के वासनात्मक भ्रष्ट अंश का द्योतक है, जो उसे अपने आप पर शर्मिंदा होने के बावजूद रंजना, अंजना, वंदना और न जाने किस-किस से विवाहेत्तर अनैतिक रिश्ते बनाने पर बाध्य करता है। इसी तरह उसके सहज, सरल, सच्चे, ईमानदार और खद्दार सात्विक अंश का प्रतीक सफेद नकाबवाला भी मौजूद है, जो लगातार उससे उपेक्षित, अपमानित, लांछित और तिरस्कृत होकर क्षत-विक्षत होने के बावजूद कहीं न कहीं अब भी उसके साथ है।

मुखौटों का एक बिल्कुल अलग रूप और नया आयाम हम मोहन राकेश के बहुचर्तित नाटक आधे-अधरे में देखते हैं। यहाँ अभिनेता के चेहरे पर मुखौटा लगाकर उसकी पहचान बदलने के बजाए नाटककार ने उसके पहनावे, चाल-ढाल, हाव-भाव, बात-चीत के अंदाज, व्यवहार और संवाद-लय के परिवर्तन को ही मुखौटा बनाकर उसकी पहचान को बदल दिया है। राकेश ने इसी माध्यम से एक ही अभिनेता के चेहरे को बिना मुखौटा लगाए काले सूट वाला आदमी, महेन्द्रनाथ सिंघानिया, जगमोहन और जुनेजा के अलग-अलग व्यक्तित्व प्रदान किए हैं। तभी तो पूरे नाटक और जीवन के दौरान उन सबसे अलग-अलग जूझने के बाद स्त्री (सावित्री) इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि, "अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा ?-चेहरा सबका एक ही!"

परंतु सबसे बड़ी विडंबना और समस्या तो यह है कि आज के उलझे हुए समय में व्यक्ति की जटिल और दोगली मानसिकता के चलते उसका वास्तविक चेहरा ही जिस कारीगरी और बारीकी से स्वयं एक मुखौटा बन गया है-उसे किस दृष्टि से और कैसे पहचाना जाए ? आधुनिक युग की वैज्ञानिक तथा यथार्थ-आग्रही भौतिकवादी दृष्टि ने आज के नाटक में भले ही परंपरागत मुखौटों की प्रयोगशीलता एवं महत्ता घटा दी हो, लेकिन जीवन में उसकी आवश्यकता, उपयोगिता और सर्वोपरिता इस कदर बढ़ा दी है कि किसी भी व्यक्ति का असली चेहरा देख पाना यदि असंभव नहीं तो दुर्लभ जरूर हो गया है। मुखौटा आज के जीवन की जबरदस्त मजबूरी बन गया है, क्योंकि इस समय के मनुष्य के बारे में सदियों पहले विष्णुपुराण ने भविष्यवाणी कर दी थी कि :

कपटवेष धारणमेव महत्वहेतु।
जिनके नकली चेहरे होंगे
केवल उन्हें महत्व मिलेगा। (अंधायुग : धर्मवीर भारती)

जयदेव तनेजा
नाट्य समीक्षक,
सह-आचार्य (सेवानिवृत्त)
हिंदी विभाग,
आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली-110021

मुखौटा-कला और रंगकर्म

प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा

भारतीय परंपरा में लोक और शास्त्र एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। कभी एक-दूसरे से टकराते हुए तो कभी एक-दूसरे से प्रभाव ग्रहण करते हुए, संपुष्ट होते हुए, दोनों धाराएँ स्वतंत्र रूप से समानांतर आगे बढ़ती रही हैं। निःसंदेह कला की लोक परंपराओं को शास्त्रबद्ध अर्थात नियमबद्ध करने से शास्त्रीय परंपरा की नींव रखी गई होगी। ये अलग बात है कि कला की शास्त्रीय परंपराओं को हमेशा से 'राज्य' का संरक्षण मिलता रहा, जिसके सहारे उसका विकास हुआ और वह मुख्यधारा बनती चली गई होगी। बावजूद लोक की परंपरा भी अविछिन्न रूप से प्रवाहमान रही। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में जिस प्रकार से 'रंगमंच' का शास्त्रीयकरण किया, वह इस बात का प्रमाण है कि उनसे पहले भी लोक में विस्तृत नाट्य-परंपरा रही होगी। स्वयं भरत ने दो धर्मिताओं-लोकधर्मी और नाट्यधर्मी का उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध नाटककार मुद्राराक्षस का मानना है कि भरत नाटक को जनता से भद्रलोक में ले गए, जिसका प्रमाण है उनका कथन-'अनुयुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः' अर्थात अभिनय में जो संवाद (शब्द) के अलावा चित्र पद्धति से कहा जाता है वह चित्राभिनय होता है। इस संदर्भ में उन्होंने 'नट' शब्द पर विचार किया है जिसका प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत में नट तथा नर्तक का वर्णन है। इसके अलावा, "पाणिनी के 'नट-सूत्र' और पतंजलि द्वारा उनके 'महाभाष्य' में बलि को बांधने और कंस को मारने की घटनाओं का उल्लेख ध्यान देने लायक है।"[1] भरत के नाट्यशास्त्र में किसी नाटक के रंगमंच पर पहली प्रस्तुति का वर्णन है। जिसके अनुसार ब्रह्मा के आदेश पर भरत ने देवासुर संग्राम को रंगमंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन उस नाटक में खुद को गलत रूप में दिखाए जाने के कारण असुरों ने इस नाटक के प्रदर्शन को बंद करवाना चाहा जिसका इंद्र ने सशस्त्र प्रतिकार किया। इस घटना से इतना स्पष्ट है कि 'देवासुर संग्राम' को अपनी नजर से प्रस्तुत करने के लिए बाद में असुरों ने भी अपने रंगमंच का विकास किया होगा। साथ ही भरत से पहले भी जनता में नाटक अनुष्ठान और सामूहिक अनुभूतियों के प्रदर्शन के रूप में मौजूद रहा होगा।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के अभिनय की चर्चा की है-वाचिक अभिनय, आंगिक अभिनय, आहार्य अभिनय और सात्विक अभिनय। इसके अलावा उन्होंने पांचवाँ 'चित्राभिनय' को अभिनय का स्वतंत्र अंग न मानकर मंच पर परिवेश या वातावरण के निर्माण के रूप में उल्लेख किया है। जैसे-तैरने का अभिनय, पर्वत पर चढ़ने का अभिनय आदि। देखा जाए तो 'चित्राभिनय' 'आंगिक अभिनय' का ही एक हिस्सा है। अभिनय की इन सभी धाराओं में लोक नाट्य की परंपरा रही है जिसमें 'मुखौटों' का प्रयोग मिलता है। तात्पर्य यह कि 'मुखौटा-कला' लोक की उपज रही होगी जो बाद में अलग-अलग संदर्भों और आयामों से जुड़ती चली गई होगी। आज भी मुखौटों का सर्वाधिक प्रयोग रंगमंच की लोक नाट्य शैलियों में किया जाता है। लोक नाट्य शैलियों के संदर्भ में प्रसिद्ध रंगकर्मी देवेंद्र राज अंकुर का कहना है कि, "भरत के चहुँमुखी अभिनय की वास्तविक छटा मध्यकाल में ही दिखाई पड़ती है-वाचिक के उदाहरण के रूप में उत्तर भारत की अधिकांश लोकशैलियाँ, विशेष रूप से रामलीला, नौटंकी, भाँड़ और स्वाँग, आंगिक के उदाहरण के लिए यक्षगान, आहार्य के प्रतीक के रूप में कथकलि और सात्विक की दृष्टि कूडिअय्म।"[2] निःसंदेह एक तरफ रंगमंच

और अभिनय को भारत में जहाँ आरंभिक काल में ही शास्त्रबद्ध कर दिया गया, वहीं वह शास्त्रमुक्त होकर भी समानांतर गतिशील रहा और मुखौटा, लोकनाट्य की इस गतिशील परंपरा के एक प्रमुख रंग-उपांग के रूप में नृत्य और अभिनेयता के साथ जुड़ा रहा। जब रामायण, रासलीला आदि जैसे पौराणिक कथानकों के प्रदर्शन की शुरुआत हुई होगी तो असुर और गैर-मानवीय पात्रों के अभिनय में मुखौटों के प्रयोग की शुरुआत हुई होगी।

इतना तो स्पष्ट है कि मुखौटा-कला मानव सभ्यता की प्राचीनतम कलाओं में से एक है। लोक और शास्त्रीय परंपरा में समान रूप से इसका उपयोग अलग-अलग संदर्भों में होता रहा है। आस्था, नृत्य और अभिनय के साथ-साथ मृतक की स्मृतियों को संजोकर रखने के लिए भी मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। मुखौटा मानव के चेहरे का प्रतिरूप है जिसके बहाने उसके व्यक्तित्व के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति की जाती है। मुखौटों के माध्यम से मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक करता रहा है। आदिवासी समुदाय अपने पुरखों की याद को संजोने के लिए मुखौटा पहनते हैं और अपने पारंपरिक उत्सवों में भी इसका प्रयोग करते रहे हैं। नृत्य में भी मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। भारतीय समाज में आस्था के संदर्भ में विभिन्न देवी-देवताओं के मुखौटे बनाने की परंपरा भी काफी पुरानी है। समकालीन रंगमंच और फिल्मों में भी कई प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने मुखौटे का प्रयोग कर अभिनय को नया आयाम दिया है। ऐसा माना जाता है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में देवताओं का वास होता है, नाट्य-प्रदर्शन में कोई दर्शक विघ्न न उपस्थित कर पाए, इसीलिए अभिनेता अपने चेहरे पर सफेद-काले रंग लगाते हैं, खासकर विदूषक। गाँवों में आज भी जब कोई अपना नया घर बनाने लगता है तो सबसे पहले टूटे मिट्टी के बर्तन के ऊपर कालिख-चूना लगाकर उसे टांग देता है ताकि किसी की नजर न लगे और उसका घर निर्विघ्न बन जाए। शहरों में तो बने-बनाए नजरबट्टू मिल जाते हैं। मुखौटा मानव संस्कृति के साथ किस प्रकार अभिन्न रहा है, उसका प्रमाण है इससे संदर्भित मुहावरे और कहावतें। आज भी किसी व्यक्ति की निंदा करने के लिए कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने 'सराफत का मुखौटा' लगा रखा है या फिर 'मुखौटा उतर जाना' जैसे मुहावरे आज भी प्रचलित हैं।

सुप्रसिद्ध रंग आलोचक जयदेव तनेजा मुखौटा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि, "सामान्यतः जो चीज किसी के मुख को ओट में ले जाए या छिपा दे उसे मुखौटा कहते हैं। परंतु विशिष्ट अर्थ में मुखौटा वह वस्तु है जो उसे पहनने वाले मुख या चेहरे को छिपाने के साथ-साथ उसे एक नई शक्ल और पहचान भी देती है।"[3] ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'जो चेहरे को ढक ले, रूप बदलने के लिए प्रयोग में आए, किसी को डराने के लिए या मनोरंजन के लिए' प्रयुक्त हो वह मुखौटा (मास्क) है। पारंपरिक रूप से विश्व के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग तरीकों से मुखौटे बनाने की परंपरा रही है। मानव के साथ-साथ दैवीय और राक्षसी शक्ति के प्रतीक के रूप में भी मुखौटे बनाए जाते हैं। लोक विश्वास के अनुसार मुखौटे में आत्मा, देव और दानव का वास होता है।

इस संदर्भ में प्रख्यात विदुषी डॉ. कपिला वात्स्यायन द्वारा 20 फरवरी से 25 फरवरी, 1998 को दिल्ली के 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में आयोजित मुखौटों की अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी 'रूप-प्रतिरूप' भी उल्लेखनीय है, जिसमें 21 देशों के 400 प्रकार के मुखौटों का प्रदर्शन हुआ था। साथ ही इस विषय पर संगोष्ठी और मुखौटा-कला, नृत्य आदि का प्रदर्शन भी किया गया था। इसी को आगे बढ़ाते हुए वर्ष 2010 में 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र' में मुखौटा पर एक मल्टीमीडिया परियोजना की भी शुरुआत की गई, जिसमें इस संस्थान में संगृहीत विश्व के 22 देशों के चयनित मास्क छवियों का डेटाबेस तैयार कर मुखौटे के अध्ययन में सहयोग करने के लिए एक 'इंटरैक्टिव मल्टीमीडिया' की प्रस्तुति करने की योजना बनी। इस योजना के अंतर्गत 'आईजीएनसीए' द्वारा 'बेपर्दा मास्क, अचेतन और चेतन कठपुतलियाँ, कहानियों के साथ कहानियां' 'मैन एंड मास्क' शीर्षक से डीवीडी-रॉम जारी किया गया। डॉ. कपिला वात्स्यायन के अनुसार, "मुखौटों के होने का पहला संदर्भ या संकेत लगभग तीस हजार वर्ष ई. पूर्व (जिन्हें कुछ इतिहासकर दस हजार वर्ष ई. पू. भी मानते हैं) की चट्टानों पर उकेरे गए चित्रों में मिलता है।"[4] स्पेन, तंजानिया, अल्जीरिया, लीबिया, कजाकिस्तान, मैक्सिको, स्वीडन, पेरु और कनाडा की अनेक गुफाओं और कंदराओं में प्रागैतिहासिक मुखौटों के पाषाण-चित्र

मिलते हैं। भारतीय उप महाद्वीप में मोहनजोदड़ो-हड़प्पा और भोपाल के पास भीमबेटका में भी मुखौटों के प्राचीन चिह्न मौजूद हैं। वैसे मुखौटों के प्रत्यक्ष प्रमाण मिस्र में 2040-1786 ई.पू. से लेकर ईसा की पहली शताब्दी के बीच के मिले हैं। मिस्र और रोम में मृतक के अंतिम संस्कार के समय मुखौटा लगाने की परंपरा थी जिसे वे दफनाने के समय संभाल कर रख लेते थे। राजा और विशिष्ट व्यक्ति के मुखौटे सोने या चांदी के होते थे और सामान्यजन के मुखौटे प्लास्टर किए कपड़े के होते थे। अफ्रीकन देशों में भी मुखौटों के प्रयोग की प्राचीन परंपरा रही है। यहाँ मुखौटों का प्रयोग धार्मिक और प्रतीकात्मक रूप से होता रहा है। "संभवत: मुखौटों का नवीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए जीवन-सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा। इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, सिंह के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, साथ ही प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हेलमेट) का प्रयोग तो आज भी खूब किया जाता है।"[5] आज भी गाँवों में किसानों द्वारा पशु-पक्षियों और जंगली-जानवरों से अपनी फसल की सुरक्षा के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है जिसे 'बिजूका' कहा जाता है। राजस्थान में प्रचलित 'कठपुतली नाच' की पृष्ठभूमि में भी मुखौटे की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। कांवड़िया-यात्रा में शिवभक्तों द्वारा भगवान शिव के गणों नंदी, भूत-प्रेत आदि का मुखौटा लगाकर स्वाँग करने की परंपरा आज भी देखी जा सकती है। पर्यावरणीय चेतना के जन-जागरण के लिए, मानव एवं प्रकृति के सहचर संबंध को स्थापित करने के लिए भी पर्यावरण-संरक्षण के कार्यकर्ता द्वारा वन्य जीव-जंतु के मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि मुखौटों का प्रयोग मानव-सभ्यता की प्राचीनतम कलाओं में से एक है, जो लोक जीवन से जुड़कर लोकनृत्य और लोकनाट्य का अभिन्न हिस्सा बनता गया। आगे चलकर यह कला शास्त्रीय और आधुनिक रंगमंच से भी जुड़ती चली गई।

इस प्रकार लोक और शास्त्र दोनों परंपराओं में प्राचीनकाल से मुखौटों के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। कुछ नृत्य में तो चेहरे का मेकअप ही मुखौटे का आभास देता है। जैसे-कथकली, कुडियाट्टम, यक्षगान आदि। प्रहलाद नाटक (ओड़िशा), भागवत मेला (तमिलनाडु), दशावतार (महाराष्ट्र), गवरी, गंभीरा (राजस्थान), विदापत नाच (बिहार), अंकिया नाट (असम), तेरेकुत्तु, (तमिलनाडु), रामनगर की रामलीला के अलावा उड़ीसा, बंगाल और झारखंड के लोकप्रिय छऊ नृत्य में भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। अंकिया नाट में मानवेत्तर चरित्रों-गरुड़, मारीच आदि के लिए मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। गढ़वाल, उत्तरांचल में प्रचलित लोक-नाट्य लाटापत्तर मुखौटा आधारित है। हिमाचल के ही भोटिया जनजाति मुखौटा नाट्य खेलते हैं जिसे स्थानीय भाषा में 'पत्तर नाट' कहा जाता है। इसके अलावा हिमाचल के लाहौल स्फीति और किन्नौर अंचल में होंरिगफो, छम और छेशू आदि मुखौटे-नाट्य का प्रचलन है। मुखौटे का अत्यधिक प्रचलन छऊ नृत्य में किया जाता है। सरायकेला, पुरुलिया और झारखंड में छऊ अभिनेता मुखौटा का उपयोग करते हैं। सरायकेला छऊ का इतिहास लगभग 1205 ई. से मिलता है। सरायकेला छऊ नृत्य शैली के आधुनिक प्रयोगकर्ता शशीधर आचार्य के अनुसार 'छऊ' शब्द में 'छ' का अर्थ है छादन छा जाना, आच्छादित कर लेना और 'ऊ' लिया गया है 'उपांग' से। छादन के अग्र भाग 'छ' और उपांग के अग्र भाग 'ऊ' के मिलने से ही 'छऊ' बना है। यह अर्थ परंपरा से है। पर मेरे अनुसार उसका अर्थ छाया होना चाहिए। छऊ का अर्थ छाया, प्रतिबिंब इमेज होना चाहिए। जब तक हमारे दिमाग में इमेज नहीं बन पाएगी तो हम कोई भी मुखौटा कैसे बना पाएँगे ? चाहे मोर का ही मुखौटा क्यों न हो।"[6] छऊ शैली में मुखौटा के अलावा माइम का भी प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य में तकनीकी मूलत: प्रकृति से ली गई है जिसमें पशु-पक्षी, जानवर आदि की चाल और उसके व्यवहार आदि का अनुकरण किया जाता है। छऊ की मूल विशेषता इसका आंगिक अभिनय है, इसमें आंगिक अभिनय से ही भावों को प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार उत्तर बिहार और तराई नेपाल के 'मिथिलांचल' क्षेत्र के पारंपरिक 'विदापत नाच' में भी मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। "इस नाट्यरूप में हरिवंशपुराण के दशम स्कंध पर आधारित पौराणिक नाटक 'पारिजात हरण' का मंचन किया जाता है जिसमें इन्द्र और कृष्ण के सैनिक मुखौटा पहनते हैं। इन मुखौटों में विविधता नहीं होती है, एक जैसी दिखती है। लगता है सेना के

दो पक्ष होने के कारण पहचान अलग दिखाने के लिए ये मुखौटे प्रयुक्त होते हैं।"[7] जगदीश चन्द्र माथुर और प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन के अनुसार इस नाटक में कुछ गीत विद्यापति के गाए जाते हैं, इसीलिए इसे 'विदापत-नाच' कहा जाता है। माथुर इस पर असम के अंकिया नाट का प्रभाव भी मानते हैं, जिससे महेंद्र मलंगिया असहमति जताते हैं।"[8] गौरतलब है कि असम के 'अंकिया-नाट' में मानवेत्तर पात्रों के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। विदापत-नाच गायन प्रधान है जिसमें प्रधान गायक को 'मूलगाइन' कहा जाता है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'रसप्रिया' में इस विलुप्त होती लोक नाट्य शैली के कलाकार के दर्द को पचकौड़ी के माध्यम से बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। बिहार के पूर्णिया अंचल प्रचलित इस लोक नाट्य-शैली की भाषा मैथिली का ठेठ रूप है- "कृष्ण उद्धव से-देखू जमुना किनारे में रास-विलास करते छिनमे हमरे मुरली राधा चोराक' ल' गेल छथिन। से अपने जाउ। बहुत तरह से समुझा-बुझा करके हमर मुरली लाब' जाऊ।"

भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (पाँचवीं शताब्दी) में मुखौटों का संदर्भ और प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। भरतमुनि के अनुसार अगर अनेक बाहुओं वाले, अनेक और भयंकर मुख वाले अथवा किसी पशुओं के मुख वाले पात्रों का अभिनय करना हो या सिंह, खर, ऊँट, हाथी आदि पशुओं के रूप की योजना मंच पर आवश्यक हो तो मिट्टी, लकड़ी, चमड़े आदि से बने हुए मुखौटों का उपयोग करते हुए ऐसे पात्रों की भूमिकाएँ प्रस्तुत की जानी चाहिए। भरतमुनि नाट्यशास्त्र के 35 वें अध्याय में लिखते हैं-

"बहुबाहूबहुमुखास्तथा च विकृतानना:।
पशुश्वापदवक्ताश्च खरोष्ट्राश्च गजानना:।। 3।।
एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये।
आचार्येण तु ते कार्या मृत्काष्ठजतुचर्मभि:।। 4।।"

ओमप्रकाश भारती का मानना है कि नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने कई स्थान पर मुखलेपन का जो निर्देश दिया है उसे 'मुखौटे का दूसरा रूप माना जा सकता है। भारत की तरह यूनानी रंगकर्म में भी प्राचीनकाल से मुखौटों का बहुविधि प्रयोग किया जाता रहा है। खासकर त्रासदी के प्रदर्शन में मुखौटों के प्रयोग के प्रमाण छठी शताब्दी से मिलने लगते हैं। "पुरातात्विक शोध के अनुसार सर्वप्रथम नाट्य प्रस्तुति संबंधी जानकारी ईसा पूर्व 532 एस्किलस की त्रासदी 'द परसिन्स' की प्राप्त होती है, जो ईस्वी पूर्व 479 तक मंचित हुआ। एस्किलस सोफोक्लीज एवं यूरोपोडीज द्वारा लगभग 120 त्रासदियाँ लिखी गई जिनमें से अभी तक 35 उपलब्ध हैं।"[9] जैसा कि पहले जिक्र किया गया यूनान में मृतक के अंतिम संस्कार के अनुष्ठान में मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता था जो बाद में चलकर रंगकर्म का हिस्सा बन गया होगा। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय और यूनानी सभ्यता में मुखौटों का प्रयोग ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक होने लगा था। साथ ही यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि दोनों सभ्यताओं में मुखौटों का आरंभिक उपयोग धार्मिक और संस्कारादि के अवसर पर पहनने या पहनाने के लिए शुरू हुआ होगा, जो बाद में चलकर नृत्य और रंगकर्म से जुड़ा होगा। आखिर रंगमंच भी तो जीवन के गतिशील यथार्थ की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता की आदिम कला के रूप में मुखौटा मानव संस्कृति से जुड़ा रहा है। ऋतुराज वशिष्ठ ने ठीक ही लिखा है कि, "सृजनेच्छा मनुष्य का मार्मिक और मौलिक धर्म है। मुखौटों के संदर्भ में यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि बाह्य रूप की अभिव्यक्ति करते हुए आंतरिक रूप की अभिव्यक्ति करना है, जैसे-मन में कुछ और बाहर कुछ और। यह दोहराव दिखाने अथवा आंतरिक भावों को दबाने का सर्वश्रेष्ठ साधन रहा है-मुखौटा।"[10] सुप्रसिद्ध चिंतक आलोचक रमेशचन्द्र शाह मुखौटों के आध्यात्मिक पक्ष पर विचार करते हुए लिखते हैं कि, "कहना कठिन है किसके मुखौटे ज्यादा विविध और ज्यादा आकर्षक हैं-विश्व-सृष्टा के अंश इस आदमजात के? जबर्दस्त होड़ मची है दोनों के बीच। सृष्टा सिर्फ आदमी का मुखौटा पहन के संतुष्ट होता नहीं लगता। हर अवतार का मुखौटा है और इन मुखौटों में केवल नर और नारायण का रिश्ता ही नहीं बोलता, मनुष्येत्तर और मनुष्योपरि जो सृष्टि है, उसके साथ के सृष्टा का संबंध खुलता है।"[11] डॉ. शाह मुखौटा के संदर्भ में मानव के भीतर सगुण से तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव द्वारा प्रयुक्त मुखौटे भी सरूप की खोज के उपकरण हैं। स्पष्ट है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक विभिन्न संदर्भों और विभिन्न रूपों में मुखौटों की उपस्थिति मानव संस्कृति

के साथ रही है। रामलीला से लेकर रासलीला और आस्था के संदर्भ में विभिन्न देवी-देवताओं के मुखौटों का प्रयोग इसके आध्यात्मिक आयाम का प्रमाण है। इस संदर्भ में मुखौटा दैवीय और आसुरी शक्ति, दोनों संदर्भों में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता रहा है।

आधुनिक रंगमंच में मुखौटों का प्रयोग बहुविधि रूप से किया जाता रहा है। अभिनय के लिए चेहरे पर सामान्य मेकअप लगाने से लेकर माइम और मुखौटा के प्रयोग तक की विकास यात्रा को परस्पर कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। चेहरे के बिना अभिनय की कल्पना नहीं की जा सकती और मुखौटा आखिर चेहरे का ही प्रतिरूप है। यही कारण है कि नंदकिशोर आचार्य मुखौटा को उपकरण न मानकर अभिनय-विधि मानते हैं। उनका मानना है कि अभिनय में जिसे मुख-मुद्राओं से संप्रेषित नहीं किया जा सकता है उसे मुखौटा के सहारे व्यंजित किया जाता है। चेहरा और मुखौटा को एक-दूसरे का पूरक सिद्ध करते हुए नंदकिशोर आचार्य मानते हैं कि इसी कारण से, "मुखौटों या चेहरों के इस्तेमाल की सर्जनात्मक अनिवार्यता महसूस होती है, जिसके बिना हम नाट्यात्मक या अभिनय संभव यथार्थ के कई स्तरों और पहलुओं से अपरिचित रह जाने को विवश हो जाते हैं। इसीलिए मुखौटा केवल उपकरण नहीं है, वह एक अभिनय-विधि-आहार्य के अभिनय होने की वैधता का प्रमाण है।"[12] नाटक में मुखौटा का कब प्रयोग शुरू हुआ इसके बारे में पर्याप्त प्रमाण नहीं उपलब्ध है। जयदेव तनेजा भी यही मानते हैं कि पहले मुखौटा आया कि नाटक यह कह पाना कठिन है।"[13] फिर भी ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के आस-पास यूनानी नाटककार थैस्पिस द्वारा अपने नाटकों में मुखौटों के प्रयोग का प्रमाण मिलता है।

आधुनिक हिंदी रंगमंच में मुखौटों का प्रयोग कई लेखकों और निर्देशकों ने किया है। जयदेव तनेजा के अनुसार हिंदी रंगकर्म में मुखौटों का अधिकतम प्रयोग एक मंचीय उपकरण, प्रतीक या नाटकीय रूढ़ि के रूप में किया गया है। बाल नाटकों में चरित्रों के प्रतीकात्मक रूप को व्यंजित करने के लिए पशु-पक्षियों, प्रकृति आदि के विविध रूपों के सादृश्यमूलक मुखौटों का प्रयोग किया गया है। जीव-जंतु को मानव की तरह बोलते हुए देखकर बच्चों की कल्पनाशीलता का विकास होता है। बाद में कॉमिक्स, कार्टून और एनिमेशन फिल्मों का जो विकास हुआ इसके पीछे मुखौटा मुख्य प्रेरणा रहा होगा। डॉ. धर्मवीर भारती के सुप्रसिद्ध नाटक 'अंधायुग' में कौए और उल्लू का प्रतीकात्मक उपयोग किया गया है। 'अंधायुग' के तीसरे अंक में 'अश्वत्थामा के अर्धसत्य' में कौए और उल्लू की मुखाकृति का वेश लिए नर्तक शिशुओं को दिखाया गया है, जहाँ उल्लू की मुखाकृति वाला नर्तक कौए की मुखाकृति वाले नर्तक पर आक्रमण करता है। अश्वत्थामा इस आक्रमण को स्तब्ध होकर देखता है और जैसे ही उल्लू की मुखाकृति वाला नर्तक कौए शिशु की मुखाकृति वाले नर्तक के पंखों को घायल कर देता है, उस घायल पंख को हाथ में उठाकर खुशी से उछलते हुए कृपाचार्य से कहता है-'मिल गया, मिल गया, मातुल मुझे मिल गया।' प्रसिद्ध रंग-निर्देशक एम.के. रैना के अंधायुग की रंगमंचीय प्रस्तुति पर विचार करते हुए जयदेव तनेजा लिखते हैं कि, "क्रूर नरपशु अश्वत्थामा के पाशविक चरित्र को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट रूप-विन्यास के साथ-साथ छड़ी वाले एक दुष्ट मुखौटे का भी प्रयोग किया गया था, जिसे अपने हाथ में पकड़कर अश्वत्थामा (जी.पी. नामदेव) कई अवसर पर कई तरह से इस्तेमाल करके नाट्यानुभव को सघन एवं तीव्र बनाता है।"[14]

रणजीत कपूर ने 'खबसूरत बहू' में बैल, एम.एस. सथ्यू ने 'बकरी' में बकरी, वाल फ्रेम मेहरिंग ने 'बिल्ली चली पहनकर जूता' में बिल्ली के मुखौटों का प्रयोग किया था। गिरीश कर्नाड के नाटक 'हयवदन' में तो घोड़े के मुखौटे की केंद्रीय भूमिका है। घोड़े के अलावा इस नाटक के आरंभ में गणेश वंदना के लिए कुर्सी पर गणेश का मुखौटा रखा जाता है। इस नाटक में काली माँ की जीवंत उपस्थिति मुखौटों के बिना संभव नहीं थी। इसीलिए डॉ. तनेजा के अनुसार 'मुखौटों के सार्थक और नाटकीय प्रयोग की दृष्टि से गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' समस्त आधुनिक भारतीय नाटकों में संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चर्चित अभिमंचित नाट्य-प्रस्तुति है।' 'हयवदन' नाटक के संबंध में निर्देशक दिनेश खन्ना का कहना है कि इसमें "दो कथाओं का एक साथ समायोजन किया गया है। पहली कपिल, देवदत्त और पद्मिनी की प्रेमकथा दूसरी 'हयवदन' की जिसका सिर घोड़े का है, पर वह मनुष्यों जैसा बोलता है। उसकी पूर्णता प्राप्त होने की कथा। दोनों कथाओं में मुखौटे जैसी युक्ति का प्रयोग शिल्प और मनोवैज्ञानिक

दोनों स्तरों पर बड़े प्रभावी ढंग से किया गया है। इस नाटक में सबसे प्रभावशाली युक्ति है-देवदत्त और कपिल के सिरों की अदला-बदली और द्वंद्व भरी स्थिति।"[15]

गिरिराज किशोर के नाटक 'चेहरे चेहरे किसके चेहरे' को दिनेश खन्ना विचार प्रतीक और शिल्प की दृष्टि से एक मुखौटा नाटक मानते हैं। इस नाटक का केंद्रीय चरित्र ही 'महान चेहरा' है और जिसके मातहत अनेक चेहरेधारी हैं। इस नाटक के एक दृश्य में एक पात्र का आगमन होता है जो अपने चेहरे पर एक बड़ा मुखौटा लगाए हुए है। वहाँ पहले से मौजूद चारों पात्रों को वह मुखौटे लगाने का आदेश देता है। उसके बाद पांचवाँ महान चेहरे वाला पात्र अपना भाषण देता है और 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का नारा देता है। इस नाटक पर आपातकाल की परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए मुखौटों का सृजनात्मक प्रयोग किया गया है। इस नाटक में कोरस का स्वर मुखौटे के मुहावरे को व्यंग्य की धार प्रदान करता है- "चेहरे उसके मोहरे अपने। उनके सपने, अपने सपने। सपने अपने सबके सपने।" इसी प्रकार मुद्राराक्षस, रमेशचन्द्र शाह ने भी अपने कई नाटकों में मुखौटों के प्रयोग का निर्देश दिया है। निर्देशक सत्यदेव दुबे ने बादल सरकार के नाटक 'काला घोड़ा' की प्रस्तुति में एक ही महिला कलाकार से चार लड़कियों का अभिनय करवाया था और आधे मुखौटे के प्रयोग के द्वारा चारों चरित्र को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था।

पारंपरिक लोक-नाट्य से लेकर आधुनिक रंगमंच तक मुखौटों का सर्वाधिक प्रयोग पौराणिक पात्रों के लिए किया जाता रहा है। रामलीला में हनुमान, सुग्रीव, जामवंत या फिर रावण के दस सिर दिखाने के लिए मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। इसी प्रकार रासलीला में कंस और अन्य असुर पात्रों के अभिनय के लिए भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता रहा है। आधुनिक हिंदी मौलिक नाटकों में नाटककार, निर्देशक और अभिनेता डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कई पौराणिक-नाटकों में मुखौटों का प्रयोग किया है। अपने नाटक 'सूर्यमुख' में लक्ष्मीनारायण लाल ने मुखौटे के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है। 'इस नाटक में कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न को अपनी हमउम्र सबसे छोटी माँ वेणुरती से प्रथम दर्शन में ही प्रेम हो जाता है और दंडित होने पर इन सबसे बचने के लिए मुखौटा लगाकर छद्म रूप में नागकुंड की पहाड़ियों में जा छिपता है।"[16] डॉ. लाल ने अपने नाटक 'कलंकी' में पात्र के लिए 'ताड़ के गोल पंखे के पीछे मुँह छिपाए' रखने का निर्देश दिया है। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रीय ने अपने नाटक 'इला' में इला और सद्युम्न को आपस में रूप बदलने के लिए मुखौटे के प्रयोग की निर्देशकीय छूट का जिक्र किया है।

गिरीश कर्नाड ने अपनी सुप्रसिद्ध नाट्यकृति 'अग्नि और बरखा' में मुखौटों का बड़ा ही सृजनात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। "महाभारत के वन पर्व में आई यवक्री और परावसु की अत्यंत संक्षिप्त और अवांतर कथा पर आधारित इस नाटक में रचनाकार ने पौराणिक परिवेश और पात्रों के अनुकूल मुखौटों का प्रयोग उनकी प्राचीन महत्ता, शक्ति, पवित्रता और प्रभावशीलता के साथ किया है। मुखौटा यहाँ एक नाट्य-रूढ़ि या युक्ति मात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व और चरित्र है। यूँ तो 'अग्नि और बरखा' का आरंभ ही एक ब्रह्म राक्षस की लगभग नग्न आकृति से होता है, परंतु नाटककार ने उसके किसी मुखौटे का उल्लेख नहीं किया है। मुखौटे का उल्लेख तीसरे अंक के अंत में नाट्य-मंडली द्वारा प्रस्तुत नाटक 'इन्द्र विजय' (भगवान इंद्र और वृत्रासुर संग्राम) की तैयारी के दौरान कर्तानट द्वारा अरवसु को वृत्रासुर का मुखौटा और वेषभूषा देने के समय होता है। कर्तानट अरवसु को निर्देश देता है कि 'यह लो ये वृत्रासुर का मुखौटा है। अब अपने आप को समर्पित कर दो इस मुखौटे को। समर्पित हो जाओं और इसी में चेतन को भरो। हाँ, इतना ध्यान रहे, ज्यों ही तुम मुखौटे को जीवंत करते हो तो उस पर तुम्हें नियंत्रण भी साधना होगा। नहीं तो मुखौटा ही तुम पर चढ़ बैठेगा।"[17] कर्तानट के उपरोक्त कथन में मुखौटा, व्यंजनात्मक अर्थ देने के साथ-साथ विस्तृत आयाम भी देता है। गिरीश कर्नाड ने अपने नाटकों में लोक और शास्त्र, दोनों स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करते हुए उसे एक-दूसरे का पूरक भी बनाने का प्रयास किया है। 'अग्नि और बरखा' नाटक में वे मुखौटे को प्रतीक के साथ-साथ एक विशाल रूपक में भी परिवर्तित कर देते हैं।

वर्तमान समय में आत्मकेंद्रित मानव अपनी जिन समस्याओं से जूझ रहा है उसमें द्वंद्व और कुंठा का शिकार होना स्वाभाविक है। आज का मानव विभाजित

मानसिकता में जीने को अभिशप्त है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक द्रौपदी के संदर्भ में जयदेव तनेजा ने ठीक ही लिखा है कि "आज की द्रौपदी को पति के रूप में पाँच अलग-अलग पुरुषों (पांडवों) के साथ नहीं रहना पड़ता बल्कि एक ही पुरुष के पाँच यानी विभिन्न रूपों को एक साथ झेलना पड़ता है। इसी विखंडित व्यक्तित्व को रंगमंच पर साकार करने के लिए सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक 'द्रौपदी' में सुरेखा के पति मनमोहन खन्ना के साथ पाँच मुखौटाधारियों का भी प्रयोग कराते हैं। यहाँ मुखौटों या नकाबों की आकृतियाँ नहीं, उनके रूप महत्वपूर्ण हैं।" स्पष्ट है कि हिंदी के आधुनिक नाटककारों और निर्देशकों ने रंगमंच पर जीवन की विसंगतियों को दिखाने के लिए भी मुखौटों का बहुविधि प्रयोग किया है। मानव जीवन अंततः रंगमंच है तो मुखौटा मानव जीवन का वह आवरण जिसे ढोने के लिए वह कभी विवश होता है, तो कभी अपनी असलियत छुपाने के लिए ओढ़ लेता है। इस संदर्भ में मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' में सावित्री का जिन पाँच पुरुषों से संपर्क बनता है, वे सब अलग-अलग मुखौटों में एक ही पितृसत्तात्मक चरित्र प्रतीत होते हैं। तभी इस नाटक की मुख्य पात्र सावित्री कहती है कि- "सब के सब एक से! बिल्कुल एक से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही !"

हिंदी नाट्य आलोचना को नई परिभाषा देने में नेमिचन्द्र जैन जी की बड़ी भूमिका रही है। उनका मानना है कि आधुनिक रंगमंच को 'पारंपरिक नाट्य की ओर उन्मुख' होने के साथ-साथ उसके प्रति 'एक स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण' भी अपनाने की जरूरत है। पारंपरिक रंगमंच के महत्व को प्रतिस्थापित करते हुए अपने लेख 'पारंपरिक नाट्य' में नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं कि, "किसी भी गंभीर भारतीय रंगकर्मी के लिए बहुत दिनों तक पारंपरिक नाट्यों की उपेक्षा करना संभव नहीं, और कभी-न-कभी किसी-न-किसी रूप में शहरी रंगकर्मी को उनके साथ अपना संबंध बनाना ही पड़ता है।"[18] नेमिचन्द्र जैन इस संदर्भ में उन नाटककारों की एक सूची रखते हैं जिन्होंने पारंपरिक नाट्य-पद्धतियों, रुढ़ियों, युक्तियों और बुनावटों का इस्तेमाल किया है। जैसे-विजय तेंदुलकर का 'घासीराम कोतवाल', सतीश आलेकर का 'महानिर्वाण', गिरीश कर्नाड का 'हयवदन', चन्द्रशेखर कम्बार का 'जोकुमार स्वामी', मणि मधुकर का 'रसगंधर्व', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', अरुण मुखर्जी का 'मारीच संवाद', के.एम. पणिक्कर का 'अबनवन कटम्बा' आदि। इसके साथ ही वे प्रदर्शन और अभिनय में आकार ले रही एक नयी भारतीय शैली को रेखांकित करते हैं जिसमें संगीत, नृत्य आदि के अलावा 'मुखौटे तथा अन्य कई प्रकार की रीतिबद्धता द्वारा पारंपरिक नाट्यों में नए सृजनात्मक प्रयोग' किये जा रहे हैं। विशेष रूप से ब.व. कारन्त, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, रतन कुमार थियम, के.एम. पणिक्कर, बंसी कौल, हबीब तनवीर जैसे निर्देशकों की नाट्य-प्रस्तुति का उल्लेख नेमिजी अपने लेख में करते हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय रंगमंच पारंपरिक लोक नाट्य की रूढ़ियों और पद्धतियों का सृजनात्मक प्रयोग द्वारा अपनी प्रासंगिकता कायम रख सकता है। जिसमें मुखौटों का बहुविधि प्रयोग भी शामिल है।

मुखौटों के संदर्भ में अगर फिल्मों का जिक्र न हो तो मुखौटा-विमर्श अधूरा रह जाएगा, भले ही रंगमंच की अपेक्षा फिल्मों में मुखौटों का प्रयोग सीमित मात्रा में हुआ है। माना जाता है कि भारतीय फिल्मों में सर्वप्रथम सत्यजीत राय ने प्रभात मुखोपाध्याय की कथा पर आधारित फिल्म 'देवी' (1960 ई.) में मुखौटे का प्रयोग किया था। फिल्म की शुरुआत में ही त्रासदी के रूपक के रूप में सत्यजीत राय देवी के मुखौटे का प्रयोग करते हैं जो उनकी कल्पनाशीलता और सृजनशीलता का प्रमाण है। इस फिल्म में शर्मीला टैगोर और सौमित्र चटर्जी ने मुख्य भूमिका अदा की थी। फिल्म समीक्षक पार्थ चटर्जी के अनुसार देवी का यह मुखौटा "पहले से ही, दर्शक को आने वाली उन सभी संभावनाओं के लिए तैयार कर देता है, जिसमें मानव-इच्छा की दमनकारी शक्तियाँ अपने विभिन्न रूपों में उभरने वाली हैं।"[19] सत्यजीत राय के अलावा ऋत्विक घटक ने 1968 ई में अपनी लघु फिल्म 'पुरुलियर छाऊ' (पुरुलिया का छाऊ नृत्य) में बंगाल के पुरुलिया में छऊ को फिल्माया था। उन्होंने छऊ का प्रयोग अपनी अंतिम फिल्म 'जुक्ति तोक्को आर गोप्पो (कारण, बहस और एक कहानी, 1971-74) में भी किया था। घटक ने अपनी फिल्म 'तिताश डाकटी नदीर नाम (1972) में चेहरे को रंगने की शैली का प्रयोग किया है। बुद्धदेव दासगुप्ता ने अपनी फिल्म 'उत्तरा' (1999ई.) और शाजी एन. करुण ने 'वानप्रस्थम' (2001) में मुखौटों का प्रतीकात्मक

उपयोग किया है। बुद्धदेव दासगुप्ता ने 'उत्तरा' में छऊ मुखौटों का प्रयोग एक आंचलिक बंगला लोकगीतों के जरिए किया है, वहीं शाजी ने 'वानप्रस्थम' के केंद्र में एक अभिनेता है जो कथकली नृत्य शैली में शेक्सपीयर के आथोलो के अभिनय के लिए प्रसिद्ध हो चुका है। इस फिल्म में चेहरे को रंगने की अतिरंजिता मुखौटे का आभास देती है। स्पष्ट है कि भारतीय फिल्मों मे मुखौटों के सृजनात्मक प्रयोग की तमाम संभावना अभी भी मौजूद हैं। राजकपूर ने अपनी प्रसिद्ध फिल्म 'मेरा नाम जोकर' में मुखौटे का जिस प्रकार से प्रतीकात्मक प्रयोग किया है, वह आज भी प्रतिमान बना हुआ है। जहाँ तक पौराणिक फिल्मों की बात है तो एक लंबी सूची बनाई जा सकती है। तात्पर्य यह कि मुखौटा के प्रयोग के बिना पौराणिक-फिल्मों की कल्पना भी दुष्कर है।

नि:संदेह मुखौटा मानव सभ्यता, अध्यात्म, जीवन-पद्धति, कला और संस्कृति से सदियों से अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। साहित्य, कला, नृत्य और रंगमंच के क्षेत्र में मुखौटा मुहावरों, प्रतीकों, बिंबों, व्यंजनाओं और अभिव्यंजनाओं में आज भी उपस्थित है और आगे भी रहेगा। कभी गालिब ने कहा था कि 'काबा और बुतकदा, दोनों ही वह आवरण है जो मानव के भयंकर दु:स्वप्नों को ढँक देता है, जिसको उठाने से भयंकर दु:स्वप्न दिखेगा-"किब्लओं अब्र-ए-बुत, यक रह-ए-ख्वाबीद:-ए-शौक, कअब: ओं बुतकद: यक महमिल-ए-ख्वाब-ए-संगी।" जीवन और जगत की विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएँगी, मुखौटे नए प्रतीकों और संदर्भों के साथ कला- साहित्य-संस्कृति और जीवन में उपस्थित रहेंगे। आखिर आज जीवन और जगत का कौन-सा क्षेत्र मुखौटा विहीन रह गया है, यह कह पाना कठिन है। कवि उदयन वाजपेयी ने अपनी कविता 'मुखौटों का शौक' में ठीक ही लिखा है-

"हमें मुखौटों का शौक था
हाथ को धोकर सफाई के दस्ताने पहनते थे
पैरों में सफाई के मौजे चेहरे पर सफाई का मौजे. ..।"

संदर्भ

1. विस्तार के लिए देखें, मुद्रा राक्षस, रंग भूमिकाएँ, राजकमल प्रकाशन, सं. 2006, पृ. 39
2. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, सं. 2006, पृ. 47
3. देखें, 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, रंग प्रसंग', अक्टूबर-दिसंबर, 2004, पृ. 20
4. उपरोक्त, पृ. 21
5. उपरोक्त, पृ. 21
6. सरायकेला (ओड़िशा) छऊ नृत्य शैली के प्रयोगकर्ता शशीधर आचार्य से प्रकाश चन्द्र झा की बातचीत, उपरोक्त, पृ. 21
7. ओमप्रकाश भारती का लेख, 'सदियों से साथ हैं मुखौटे', 'रंग प्रसंग', अक्टूबर-दिसंबर, 2004, पृ. 41
8. महेंद्र मलांगिया, 'मैथिली लोक नाट्यक विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण', मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली, 2009, पृ. 139-141
9. ऋतुराज वशिष्ठ का लेख, 'यूनानी मुखौटा', उपरोक्त, पृ. 61
10. उपरोक्त, पृ. 66
11. नंदकिशोर आचार्य का लेख 'मुखौटा : आहार्य का अभिनय होना', उपरोक्त, पृ. 19
12. उपरोक्त, पृ. 5
13. 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, उपरोक्त, तनेजा जी ने हिंदी रंगमंच में मुखौटों के प्रयोग संबंधी सूचनाएँ सिलसिलेवार प्रस्तुत की हैं। इस लेख में अधिकतम सूचनाएँ उक्त आलेख से ली गई हैं।
14. उपरोक्त, पृ. 23
15. जहाँ लिखा है मुखौटा, दिनेश खन्ना, रंग प्रसंग, उपरोक्त, पृ. 52
16. 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, उपरोक्त, पृ. 25
17. उपरोक्त, पृ. 26
18. नेमिचन्द्र जैन का निबंध 'पारंपरिक नाट्य', 'नटरंग', 'नेमि शती' विशेषांक, संपादक-अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, जनवरी-सितंबर, 2019, पृ. 44
19. पार्थ चटर्जी का आलेख, 'भारतीय सिनेमा में मुखौटा', रंग प्रसंग, उपरोक्त, पृ. 49

-प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा
प्राचार्य, आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021

लोक नाट्य परंपरा में मुखौटा-कला और महापुरुष माधवदेव

डॉ. अमित सिंह

परंपरा का अवगाहन लोक बरक्स शास्त्र :

यह दुनिया एक रंगमंच है जहाँ प्रत्येक मनुष्य अपनी भूमिका अदा करता है। कला के क्षेत्र में नाटक और रंगमंच की दो धाराओं लोकधर्मी और नाट्यधर्मी की चर्चा नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने ही कर दी थी। लोक की परिधि व्यापक और गहरी है। लोक नाट्यपरंपरा भी व्यापकता और गहराई को साथ लेकर चली है, जिसमें जनमानस की आस्था, विश्वास, चिंता-चिंतन और लोकजीवन की विविध अनुभूतियों और परंपराओं का सन्निवेश निहित है। लोकजीवन के व्यापक जीवनानुभवों को अपने में समेटे लोक नाट्यपरंपरा के प्रचलन की भी एक विस्तृत एवं सुदीर्घ परंपरा विद्यमान है। कथ्य, शिल्प और प्रदर्शन तीनों ही स्तरों पर लोकनाट्य परंपरा की धारा जनमानस की उत्सवधर्मिता और लोकजीवन के परिवेश की विभिन्न छवियों को बखूबी अंकित, सृजित और प्रदर्शित करती है। संस्कृत की नाट्य परंपरा का अन्ययान्य कारणों से मध्ययुग में क्षीण पड़ जाना और वैष्णव आंदोलन का समूचे भारत में फैल जाना भी रंगमंच की परंपरा को बचाए रखने में मददगार साबित हुआ। इसके प्रभावस्वरूप धार्मिक स्थलों एवं मंदिरों में नृत्य-नाटकों के माध्यम से लोक नाटक के प्रचलन को बराबर बढ़ावा मिलता रहा। जहाँ एक ओर नाटक की शास्त्रीय परिपाटी क्षीण हुई वहीं उसकी लोक धारा प्रवाहित होती रही। ईसा पूर्व पहली शताब्दी से प्रचलित संस्कृत की शास्त्रीय नाट्य परंपरा के ह्रास के कारणों में मुख्य रूप से- "संस्कृत का आम बोलचाल की भाषा न रह जाना, नाटकों का मात्र राजप्रासादों तक सीमित होना, बौद्ध धर्म और जैन धर्म का लोकप्रिय मनोरंजन की निंदा करना और आगे चलकर मुस्लिम शासन द्वारा नाटकीय प्रदर्शनों का विरोध। संस्कृत नाट्यपरंपरा के इस ह्रास के आधार पर यह कहा गया कि विधा के रूप में नाटक विलीन हो गया और कई शताब्दियों तक विलीन रहा। यह धारणा ठीक नहीं है। एक तो संस्कृत नाटकों के समानांतर लोकनाट्य की अखंड परंपरा चली आ रही थी, उसके कारण मध्ययुगीन शताब्दियों में नाटकीय प्रदर्शनों का आभाव नहीं रहा, दूसरे संस्कृत रंगमंच और नाटक की परंपरा समाप्त हो जाने पर नाट्यप्रवृत्ति की अभिव्यक्ति अनेक अर्धनाटकीय रूपों और माध्यमों में हुई, जिनकी रूढ़ियाँ पारंपरिक रंगमंच ने ग्रहण की ये इन अर्धनाटकीय रूपों का अस्तित्व संस्कृत नाटक के विकास के पहले से था।"[1]

इस रूप में हम यह पाते हैं कि लोक उत्सवधर्मिता के कारण नाटकीय तत्व प्राचीनकाल से पाए जाते हैं और नाटक रंगमंच का पारंपरिक स्वरूप एक लंबी यात्रा के रूप में निरंतर विद्यमान रहा है। लोकजीवन के व्यवहार में वह बराबर बना रहा है। भारत भूमि विविधता में एकता की भूमि है। भौगोलिक- साहित्यिक, कला और संस्कृति के स्तर पर हमारा देश विभिन्नता में बँटा होने पर भी हमारे पारस्परिक ताने-बाने के रेशे आपस में जुड़े हुए हैं। लोक नाटकों की धुनें और विभिन्न लोक नाटकों के प्रचलन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत भूमि उत्सवधर्मिता और सांस्कृतिक संगम के रूप में सदैव ज्ञान की भूमि रही है और रहेगी। हजारों वर्षों पूर्व नाटक-रंगमंच जैसी प्रदर्शनकारी कलाओं को लेकर नाट्यशास्त्र की रचना जिसमें रंगमंच के व्यापक शास्त्र को देखा जा सकता है स्वयंमेव हमारी कलात्मक अभिरुचि समझ की गत्यात्मकता को साबित करता है। सामाजिक जीवन, भूगोल-प्राकृतिक परिवेश और अपनी माटी की सौंधी महक को हम इन लोक नाटकों और उनके प्रदर्शन में बराबर महसूस कर सकते हैं। हमारी

लोकनाट्य परंपरा मनोरंजन मात्र का साधन न रहकर एक सामाजिक संस्कार भी बनी है। लोक और शास्त्र की फॉक होने पर भी लोकनाट्य परंपरा की अजस्र धारा निरंतर प्रवाहमान रही है। विभिन्न क्षेत्रों और भाषाओं में बंटा होने पर भी भारतीय चिंतन-मनीषा के बीज सूत्र इसमें सर्वत्र मौजूद हैं। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान का सामयिक भाव प्रदर्शन उन सभी लोक नाटक परंपराओं के माध्यम से जीवंत रूप में जीवित रहा है। नाट्यालोचकों की नजर में भी लोक नाट्य परंपरा का महत्व बराबर बना रहा है। सर्वप्रथम तो स्वयं भरतमुनि ने ही लोकधर्मी नाट्यपरंपरा को स्वाभाविक बतलाया है। लोक नाटकों में कथानक की विविधता और उनमें प्रयुक्त संगीत प्रयोग उन्हें अपने समय में सार्थक बनाए रखते हैं। लोकधर्मी नाट्य परंपरा में सभ्यता और संस्कृति के क्रमिक विकसित होते पहलू पर अपनी बात रखते हुए दुर्गा दीक्षित का कहना है- "देश की कलात्मक अभिव्यक्ति में लोककला का अभूतपूर्व महत्व होने के कारण किसी भी भाषा के नाटक की मूलभूत कड़ी उस प्रदेश की लोकधर्मी नाट्यपरंपरा होती है। यही कारण है कि भारत में लोकनाट्य पुरातन काल से आज तक कई प्रकारों और रूपों में निरंतरता से विद्यमान ही नहीं बल्कि जीवित है, और कई दृष्टियों और स्तरों से विविधता लाता हुआ विकसित हो रहा है। कृषि सभ्यता में जन्मी लोकधर्मी नाट्यपरंपरा ने सभ्यता एवं संस्कृति के विकास एवं परिवर्तनों के बावजूद अपना अस्तित्व बनाए रखा है, जीवंत, स्वतंत्र एवं उन्मुक्त।"[2]

यह सच है कि भारतीय लोकनाट्य परंपरा अपने क्रमिक विकास में समय-समय पर मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को साथ लेकर चली है और अपनी प्रासंगिकता को बनाए हुए है। भारतीय चिंतन परंपरा को नजरअंदाज कर जब हम शिष्टता के फेर में पश्चिम के व्यामोह में फँस जाते हैं तो हम अपनी सांस्कृतिक जड़ों को देखना ही नहीं चाहते। नेमिचंद्र जैन ने इसी प्रकार से कहा है- "दुर्भाग्य की बात यह है कि पश्चिमी विद्वानों और उनके भक्त भारतीयों की इन मान्यताओं को हमारे अपने ही आचरण से बल और आधार मिला। हमने पिछली शताब्दी के प्रारंभ से ही बड़े भक्ति भाव से नाटक-लेखन और प्रस्तुतीकरण की पश्चिमी शैलियों और पद्धतियों की दास्तापूर्ण नकल शुरू कर दी और लगभग 12-14 दशकों तक कमोबेश वही हमारे रंगकर्म का मॉडल बना रहा। नतीजा यह हुआ कि कुछ वर्ष पहले तक हमारे रंगकर्मी शेक्सपीयर, मोलिअर, इब्सन, अरस्तू के काव्यशास्त्र (पोएटिक्स) यहाँ तक कि कामेदिया देलार्त से तो परिचित होते थे पर कालिदास, शूद्रक, भास और भरत के नाट्यशास्त्र को या कूड़िआट्टम, यक्षगान, भवई या स्वांग के बारे में उनकी जानकारी नहीं के बराबर होती थी।"[3]

इतनी स्पष्टता से यहाँ नेमिचन्द्र जैन जी ने अपने व्यापक अनुभव से रंगमंच के क्षेत्र में पश्चिमी व्यामोह को उकेरते हुए अपनी पारंपरिक जड़ों के महत्व को रेखांकित किया है। वस्तुत: नाटक के क्षेत्र में लोक और शास्त्र के भेद को तवज्जो न देते हुए रंग समीक्षकों ने भी भारतीय मौलिक चिंतन को केंद्रीयता प्रदान की है। लोकनाट्य परंपराओं के प्रचलित रूपों में भी शास्त्रीय गुण विद्यमान हैं, क्योंकि शास्त्र भी तो लोक से ही बना है। लोक एवं पारंपरिक नाट्य की धारा में गीत, नृत्य कथानक की विविधता ही शास्त्र का भी आधार बनी होगी। इन्दुजा अवस्थी भी लोकधर्मी एवं नाट्यधर्मी परंपरा के समन्वित स्वरूप को नाटकीय परंपरा में सहयोगी बतलाते हुए कहती हैं- "कहा जा सकता है कि नाटकीय प्रस्तुतीकरण के संबंध में जो भी सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत मिल सकते हैं, उनमें लोकतत्व स्पष्ट है। अत: यह मान लेना शायद उचित हो कि संस्कृत की सुविकसित नाट्यपरंपरा के पहले भी कोई नाट्य-परंपरा रही होगी जो एक ओर तो संस्कारित (अथवा संस्कृत) होकर महान नाटकों के रूप में प्रतिफलित हुई और दूसरी ओर अनेक शैलियों और क्षेत्रों में पारंपरिक नाट्यधारा के रूप में प्रवाहमान हुई। इसीलिए भारतीय नाट्य के विकास की कहानी में पारंपरिक और नागर दोनों ही परंपराओं में एक का समान स्थान है।"[4]

लोक से ही शास्त्र की निर्मिती की बात करने और नाट्यशास्त्र के आधार के रूप में गायन, वाचन व अभिनटन की लोकरंगधारा की चर्चा करने वाले रंग समीक्षक व राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के पूर्व निदेशक देवेंद्रराज अंकुर लोकधर्मी और नाट्यधर्मी परंपराओं में कोई अंतर्विरोध नहीं पाते। उनके अनुसार दोनों ही परस्पर संबद्ध और भारतीय चिंतन कला की संयोजक हैं। उनके अनुसार यदि कोई कहीं अंतर एवं समस्या है तो वह है पश्चिमी चिंतन को तवज्जो देकर उसे अपने ऊपर हावी करने की। उनके ही शब्दों में कहें तो-

"लोक नाटक और नाट्यधर्मी प्रस्तुति शैली में कोई विरोध नहीं है क्योंकि लोक नाटक की प्रस्तुति किसी अन्य शैली में की ही नहीं जा सकती। इसके विपरीत लोकधर्मी निश्चित रूप से एक अलग एवं स्वतंत्र प्रस्तुति शैली की ओर संकेत करती है। यह अलग बात है कि हम उसे यथार्थवाद के चौखटे में बंद न करना चाहें लेकिन सच्चाई यही है कि लोकधर्मी के माध्यम से भरत ने यथार्थवादी दृष्टि का संकेत आज से न जाने कितने वर्ष पहले दे दिया था। तब तक पश्चिम में तो इस अवधारणा का कोई नाम लेवा भी नहीं था। इसे नाटकीय विडंबना ही कहा जा सकता है कि जिस व्यावहारिक, सहज, सरल और प्रकृतिवादी अवधारणा का जन्म नाट्यशास्त्र में हुआ, उसे हम पश्चिम से आयातित मानकर आज उसका तिरस्कार कर रहे हैं और न जाने कौन सी अबूझ और निगूढ़ भारतीयता की तलाश कर रहे हैं।"[5]

वस्तुतः नाटक के क्षेत्र में लोक और शास्त्र के समन्वय की बात उभर कर आती है, क्योंकि शास्त्र रूपी वृक्ष की जड़ों के रूप में लोक एवं पारंपरिक नाटक एवं रंगकर्म मौजूद है। दिनोंदिन बदलती तकनीक और इजाद होते सैकड़ों मनोरंजन के साधनों और ग्रामीण से नगर में बदलते भारतीय परिवेश ने लोक नाटक एवं रंगमंच के प्रचलन तथा अस्तित्व के लिए चुनौती तो निश्चित ही पैदा की है। चूँकि समय का पहिया गोल है इसलिए दिनोंदिन बढ़ते तकनीकीकरण और पनपते शहरीकरण का भी एक चरम आएगा और उसी की ओर बढ़ते क्रम में जनसामान्य के अंतर्मन में अपनी पारंपरिक जड़ों से जुड़ने और अपने आंतरिक शून्य को भरने के लिए स्पंदन की ललक अवश्य ही पैदा होगी। जनसामान्य की यह स्पंदन ललक उस समय पारंपरिक लोक नाट्य परंपरा को कहीं-न-कहीं आज से भी ज्यादा महत्वपूर्ण साबित करेगी। यदि ऐसा न हुआ तो निश्चय ही मनुष्य लोकधुनों के अभाव में यांत्रिक और मशीनी होता चला जाएगा, क्योंकि फिर से कहा जाए तो लोक एवं पारंपरिक नाट्य परंपरा मनोरंजन का साधन मात्र ना होकर हमारी सांस्कृतिक पहचान और अस्मिता के साथ-साथ लोकजीवन की मनोवैज्ञानिक तृप्ति और सामाजिक बोध एवं भाषाई संगम का भी आयाम है।

लोक नाट्य परंपरा और मुखौटा-कला

नाटक एक प्रदर्शनकारी विधा है। नाटकीय पाठ का मंचीय विस्तार ही उसकी कलात्मक सार्थकता को आयाम देता है। नाटक के मंचीय विस्तार विशेषकर पारंपरिक नाटकों के मंचन में मुखौटों का प्रयोग महत्वपूर्ण रहा है। पारंपरिक नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों का प्रयोग अपना विशेष स्थान रखता है, यहाँ तक की छऊ जैसे पारंपरिक लोकनाट्य प्रस्तुति में तो लगभग सभी पात्र अभिनेता इसका इस्तेमाल करते पाए जाते हैं। भारतीय नाट्य परंपरा के बाहर भी इनका प्रयोग देखने को मिलता है। विभिन्न एशियाई देशों और यूरोप आदि भागों में भी मुखौटों का प्रयोग होता रहा है। हमारे देश में विभिन्न धर्मों का प्रचलन और क्षेत्रीय भाषाओं का प्रयोग देखने को मिलता है। मानव जाति की विभिन्न सुख-दुखात्मक मनोभूमियों को मुखौटे का आवरण बयान करने में सहायक साबित होता रहा है। वह एक ऐसा खोल है जो अभिनेता को एक चरित्र की नुमाइंदगी के लिए प्रतिबद्ध करता है और अभिनेता उस मुखौटे में ध्वनित होते चरित्र की भंगिमाओं को अपने अभिनय में ढालने का हर संभव प्रयास करता है। मुखौटा-कला के नैरंतर्य में मुखौटा निर्माण की प्रक्रिया भी क्षेत्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अपना अलग ही महत्व रखती है क्योंकि परंपरागत रूप से लंबे समय से मुखौटा बनाने की एक लंबी प्रक्रिया रही है। यह फिर से कह देना होगा कि भारत विविधता में एकता का देश होने के कारण मुखौटे भी अलग-अलग ढंग से बनाए जाते रहे हैं-"अलग-अलग संस्कृतियों में मुखौटा बनाने की अलग-अलग प्रविधियाँ प्रचलित हैं। जैसे आदिवासी समाज में जानवर की सींग, पक्षियों के पंख, लकड़ी और किसी-किसी समुदाय में हड्डियों के भी मुखौटे मिलते हैं छऊ में नदी में मिलने वाली खास मिट्टी का उपयोग होता है। आमतौर पर लकड़ी धातु से बना पत्थर मिट्टी, कपड़ा, कागज प्लास्टर ऑफ पेरिस, रंग, शंख, सीपी, कोड़ी, चूड़ी, हाथी दाँत, सींग, पंख, फर,सूत, ऊन, चावल, लौकी, मोम कागज की लुगदी इत्यादि सामग्रियों से मुखौटा बनाया जाता है। प्लास्टिक के आविष्कार के बाद प्लास्टिक से भी कई तरह के मुखौटे बनाए जाते हैं। मुखौटा बनाना भी एक कला है।"[6]

मुखौटा नाटक प्रदर्शन में अभिनेता के लिए जितना सहायक होता है उतना ही चुनौतीपूर्ण भी, क्योंकि सहायक तो जिस चरित्र का मुखौटा होता है उसकी विशेषताओं का सामान्य परिचय स्वयं मुखौटा ही प्रस्तुत कर देता है लेकिन चुनौती इस रूप में होती है कि जिस

चरित्र को मुखौटे के रूप में अभिनेता ग्रहण करता है वह दर्शक दीर्घ की ओर से बराबर यह मांग पैदा कर देता है कि अभिनेता उसी मुखौटे में छिपे चरित्र को अपने अभिनय से जीवंत रूप में प्रस्तुति प्रदान करे क्योंकि- "मुखौटे का मतलब एक ऐसा आवरण है जिसे धारण करने से रूप बदल जाता है, व्यक्ति किसी और का प्रतिरूप बन जाता है- मुखौटे का सबसे अधिक प्रयोग नाट्य परंपरा में देखने को मिलता है, रंगमंच प्रदर्शनकारी कलाओं की शुरुआत से ही मुखौटों के प्रयोग का उल्लेख मिलता है। यूरोपीय परंपरा में ग्रीक नाटकों से लेकर कामेदिया देला आर्ते में और इसके बाद भी मुखौटों का प्रयोग होता रहा है।...एशिया की विभिन्न पारंपरिक कलाओं में मुखौटों का इस्तेमाल होता है, जापानी नाटकों में भी मुखौटों का उपयोग होता है, जावा थाईलैंड, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि एशियाई देशों में मुखौटों की विभिन्न शैलियाँ मिलती हैं। नाटक संबंधी आदि ग्रंथ भरत के नाट्यशास्त्र में भी उल्लेख है कि पशुओं के मुख वाले मंच पर सिंह आदि किसी जानवर की योजना हो तो मिट्टी, लकड़ी, राख से लाख या चमड़े से बने मुखौटों का प्रयोग करना चाहिए। भरत केवल मुखौटों का प्रयोग और बनाने का उल्लेख भर नहीं करते हैं बल्कि कब कैसे उपयोग करना चाहिए यह भी बताते हैं।"[7] यहाँ हमने देखा कि नाटकों के प्रदर्शन में मुखौटों का प्रचलन प्रारंभ से ही रहा है और भारतीय नाट्य परंपरा में भी इसका प्रयोग प्राचीन काल से ही मिलता है। मानवेत्तर प्राणियों के साथ-साथ विशेष चरित्रों एवं दैवीय पात्रों के लिए भी मुखौटे का इस्तेमाल बराबर देखने को मिलता है। देशकाल और वातावरण एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसार मुखौटों के निर्माण और प्रयोग का प्रचलन द्रष्टव्य है। किस प्रकार मुखौटा अभिनेय चरित्र को अपना रंग देता है और अभिनेता मुखौटा धारण करने पर उसकी प्रतीकात्मक छवि को जीवंत करने के अभिनय प्रयास में संलग्न रहता है। लोक नाटकों में संकेतों की प्रधानता पर अपनी बात रखते हुए दुर्गा दीक्षित का मानना है कि- "मुखौटों के प्रयोग से रावण, देवता, विदूषक, पशु तक कोई भी पात्र बन जाता है। काल-परिवर्तन, कथा सूत्र की संगति पात्र परिचयादि बातें लोकनाट्य के सूत्रधार द्वारा बताई जाती हैं। उसके यह कहने पर कि दस साल बीत गए, दर्शक मान लेता है कि दस साल के पश्चात की स्थिति है।"[8]

इसी प्रकार से मुखौटों का प्रयोग हर जगह देखने को मिलता है वह चाहे भारतीय लोकनाट्य परंपरा हो या फिर एशिया एवं यूरोप की नाट्य परंपरा। हर स्थान पर नाट्य प्रदर्शन में मुखौटों का प्रयोग एवं प्रचलन मिलता है। दक्षिण भारत की ओर देखें तो महाराष्ट्र में ही दशावतार के मंचन में मुखौटों की चर्चा इस रूप में देखने को मिलती है- "सारे अवतार दिखाने के लिए काष्ठ के मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। गणेश जी, राक्षस, पूतना आदि के भी मुखौटे होते हैं, सरस्वती का मुखौटा नहीं होता अन्य सारे अवतारों को मुखौटा पहनाकर स्वांग सजाया जाता है। हर वर्ष मुखौटों की रंगाई की जाती है।"[9]

इस उदाहरण से यह बात भी निकल कर आ रही है कि मुखौटा-कला का कार्य अपने आप में एक निरंतरता में आगे बढ़ता रहा है। भारतीय नाट्य परंपरा के साथ ही भारतेत्तर क्षेत्रों जिसमें दक्षिण पूर्व एशिया के प्रांत और यूरोपीय देशों में भी मुखौटों का प्रयोग देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए- "म्यांमार में रामायण नाट्य नृत्य की प्रस्तुति, अभिनय और संवाद, नृत्य और काव्यपाठ, गान और एकालाप, नृत्य और नाट्य क्रियाओं का संगीत में संयोजन हुआ करता है। इसमें गायन पार्श्व संगीत के साथ नहीं जुड़ा होता बल्कि नर्तक स्वयं गायक भी होते हैं। इसकी अपनी एक विशिष्टता यह है कि इसमें राम-लक्ष्मण आदि उदात्त मानवीय पात्र भी मुखौटों का प्रयोग करते हैं। संवाद बोलते समय वे मुखौटों को उतार दिया करते हैं। पात्र प्रवेश मुखौटा पहनकर अभिनेताओं के नृत्य के साथ होता है, फिर संगीत रूक जाता है और अभिनेता मुखौटे उतारकर संवाद बोलते हुए स्वाभाविक नाट्यक्रिया करते हैं।"[10] इसी के साथ-साथ जावा में प्रचलित नृत्य नाट्य में सर्वप्रथम मुखौटा नृत्य नाट्य का प्रचलन बतलाया गया है। इस रूप में हम पाते हैं कि ना केवल भारत अपितु भारत से बाहर वैश्विक स्तर पर भी लोक नाट्यपरंपरा के रूप में रामकथा का दृश्यांकन -मंचन देखने को मिलता है। अभी पीछे हमने महाराष्ट्र के दशावतार में मुखौटा प्रयोग की बात रखी और साथ ही भारत के बाहर रामायण के मंचन में मुखौटों के प्रयोग पर जानकारी साझा की। यदि भारत के ही विभिन्न हिस्सों की बात करें तो हम पाते हैं कि वाराणसी, लखनऊ, मथुरा, दिल्ली, जयपुर, सतना, रोहतक जैसे लगभग पूरे उत्तर

भारत में की जाने वाली रामलीलाओं में मुखौटों का प्रयोग बराबर किया जाता है। बिसाऊ (राजस्थान) में की जाने वाली रामलीला में प्रयुक्त मुखौटों की चर्चा करने हुए इन्दुजा अवस्थी कहती हैं– "स्वरूपों के अतिरिक्त अन्य सभी पात्र मुखौटे पहनते हैं। मुखौटे बिसाऊ में ही बनते हैं। बड़े ही आकर्षक रंगों और आकृतियों वाले इन मुखौटों के बनने का काम रामलीला के आयोजन का प्रमुख अंग होता है और महीने भर पहले से ही प्रारंभ हो जाता है। वानरों के मुखौटे उनकी पोशाकों के रंग के होते हैं। रावण का दस मुख का मुखौटा अन्य राक्षसों के काले रंग के विशाल मुखौटे शिव, काली, ब्रह्मा, विष्णु, अंबा आदि देवी–देवताओं के भी मुखौटे बनते हैं।... बिसाऊ रामलीला का प्रमुख आकर्षण वहाँ की स्थानीय और कलात्मक वेशभूषा और सुंदर मुखौटे हैं।"[11]

रामलीला, छऊ, यक्षगान, अंकिया नाट आदि विभिन्न लोक नाटकों में मुखौटा–कला का प्रयोग देखने को मिलता है, जो कि आज भी लोक रंगमंच का अभिन्न हिस्सा हैं। नाटकों में प्रयुक्त इन मुखौटों की महत्ता को अज्ञेय जी ने इस रूप में प्रस्तुत किया है– "मुखौटे केवल धोखा देने के लिए ही नहीं बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए भी लगाए जाते हैं। साधारण जीवन में मुखौटा फरेब है, लेकिन नाटक में वही मुखौटा हमें यथार्थ में लौटा लाने में सहायक हो सकता है।"[12] पूर्वी भारत के आदिवासी समाज में नृत्य नाटिकाओं में मास्क का प्रचलन प्राय देखने को मिलता है। उड़ीसा का पशु नृत्य भी मुखौटा–कला से संबद्ध है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति का स्वरूप भी इन आदिवासी लोक गीतों एवं नृत्यों में बराबर झलकती है। ये आदिवासी कला, प्रदर्शन और संस्कृति की मानवीय विरासत हैं जो आज कहीं–न–कहीं चुनौतीपूर्ण स्थिति में हैं। पूर्वी भारत के आदिवासी मुखौटा नृत्य पर एक नजर में कहा जाए तो– "ये नृत्य एक विस्तृत भौगोलिक स्थान जो सिक्किम की पहाड़ियों के आदिवासी इलाकों से झारखंड और उड़ीसा के मयूरभंज के आदिवासी इलाकों तक फैला हुआ है। इन मुखौटों के उत्पादन के विषय में जानकारी देती है जो समाज की कला, इतिहास और शिल्पकारिता को दर्शाते हैं। झारखंड के विभिन्न गाँवों में पाया जाने वाला सरायकेला छऊ ओड़िशा का पशु नृत्य, जिसमें जानवरों के मुखौटे का उपयोग किया जाता है, पुरुलिया, छऊ जहाँ संथाल समुदाय इस कला शैली का प्रदर्शन करता है, मालदा का गंभीरा जो उत्सव के अवसर पर प्रदर्शित किया जाता है, दिनाजपुर का गम्हीरा नए साल को चिह्नित करने के लिए प्रदर्शित किया जाता है। सिक्किम के सिंघी छाम और याक छाम और असम का भावना।"[13]

विभिन्न प्रकार से बनाए जाने वाले इन विभिन्न प्रकार के मुखौटों का विभिन्न लोक नाटकों एवं नाट्य नृत्यों में अलग–अलग प्रयोग होता आ रहा है। व्यावहारिक स्तर पर इसका एक बड़ा महत्व यह है कि नाटक में प्रस्तुति प्रदान करने वाले अभिनेता को अपनी भूमिका का एक बाहरी आवरण पहले ही मिल जाता है जिससे उसके अंदर अपनी संबद्ध भूमिका का मानसिक पटल तैयार हो जाता है। यह तो स्वयं अभिनेता एवं नाट्य प्रस्तुति की ओर का पक्ष है जो उसे अभिनेय भूमिका के लिए उत्प्रेरित करता है दूसरी ओर दर्शक एवं सामाजिक वर्ग के लिए भी मुखौटा संप्रेष्य विषय–वस्तु को ग्रहण करने में सहायक होता है। वह इस रूप में सहायक होता है कि सामान्य बोल–चाल के स्तर पर जब यह कहा जाता है कि उसका चेहरा लाल हो गया या पीला पड़ गया आदि आदि। इस प्रकार बदलते मनोभावों को ऐसे उदाहरणों से उद्धृत किया जाता है। ठीक ऐसे ही प्रस्तुति के दौरान अभिनेता जिस प्रकार का मुखौटा पहनकर मंच पर अवतरित होता है उसे देखकर दर्शक समाज अभिनेता की भूमिका को (उस पर आरोपित चरित्र) सहज रूप में समझ पाते हैं। भारत के अलग–अलग हिस्सों और वैश्विक स्तर पर भी लोक नृत्यों एवं लोकनाटकों में स्थानीय माटी की सोंधी महक वहाँ की सभ्यता एवं संस्कृति का जीवंत रूप उभारकर सामने लाती है। लोक कथाओं का विस्तारित रूप सांस्कृतिक संगम की प्रतीति कराता है। लोक एवं पारंपरिक रंगमंच मुख्यतः दो स्वरूपों को साथ लेकर आगे बढ़ा एक ओर लौकिक प्रेमाख्यान व सामाजिक–राजनीतिक विषय–वस्तु इनमें प्रमुख रही है जिसमें नौटंकी, स्वांग, ख्याल, तमाशा, जात्रा, माच, भवई आदि प्रमुख हैं तो दूसरी ओर धार्मिक एवं पौराणिक आख्यान आधारित लोक नाटक जैसे रामलीला, दशावतार, अंकिया नाट को प्रमुखता से देखा जा सकता है, जिनमें भक्ति भावना का स्वरूप प्रमुखता से उभरता है। रामलीला में प्रयुक्त मुखौटे तो पूरे भारत में प्रचलित हैं। असम के अंकिया नाट में तो रावण के दस मुंह वाले मुखौटे का ही प्रचलन रहा है। अन्यान्य कारणों से लोकरंगमंच एवं नाट्य प्रदर्शन की कला में

मुखौटों का प्रचलन इस नाट्यधारा के सजीव और रम्यक पक्ष को सामने रखती है इसी से लोक नाटकों की प्रस्तुति में लोक कथाओं का सन्निवेश भी बराबर दिखता है, जो अपने आपमें लोकजीवन की धुनों का प्रस्तोता भी बनकर उभरता है। लोक नाटकों की शास्त्रीय विवेचना करते हुए डॉ. दशरथ ओझा ने उनमें प्रयुक्त मास्क आदि की चर्चा करते हुए भी लोक नाटकों में लोक नाटककारों द्वारा लोक जीवन के प्रस्तुत किए जाने वाले जीवन यथार्थ का भी उल्लेख करते हुए कहा है– "कुंकुम, खड़िया, गेरू, काजल आदि सामग्री इनके लिए प्रसाधन की वस्तुएँ हैं। प्रकाश के लिए मशालों की व्यवस्था होती है। कपड़ों के मशाल, अरंडी के तेल के छोटे बड़े कुप्पे, नेपथ्य-निर्माण की एक-दो चादरें इनके उपकरण हैं। कभी-कभी चेहरे (Masks) लगाकर पशु-पक्ष, भालू-बंदर, देव-दानव का वेश धारण किया जाता है। नागरिक नाटककार ग्राम्य जीवन में घुल-मिल नहीं पाते। अतः ग्रामीणों के सुख-दुख से सर्वथा अनभिज्ञ होने के कारण वे ग्रामीण समाज के हृदय को छू नहीं पाते। ग्रामीण नाट्यकारों ने प्रेम, आर्थिक संकट, अधिकारियों की उच्छृंखलता, वीरों के शौर्य, साहसियों के साहस, धार्मिकों की तपस्या, ढोंगियों के आडंबर, पतिव्रता की विपत्ति, समाज की कुरीतियाँ, नवीन सभ्यता की त्रुटियाँ आदि को नाटक की कथावस्तु का आधार बनाया।"[14] यहाँ हम देख पाते हैं कि किस प्रकार लोक नाट्य परंपरा में लोक कलाओं, लोक समस्याओं और मुखौटों का प्रयोग बराबर देखने को मिलता है। लोकनृत्य और लोकनाटकों का आधार भी भरा पूरा लोकसमाज है और उसकी प्रस्तुति की उद्देश्यपूर्ति भी लोकसमाज को ही अधिकांशतः छूती है। जमीन से जुड़े जीवन अनुभवों का जीवंत कोश उपलब्ध कराने के रूप में लोक नाट्यपरंपरा मानव सभ्यता के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलुओं के ऐतिहासिक साक्ष्य भी प्रस्तुत करती है। अरण्य और आदिवासी समाज के साथ-साथ विभिन्न भू-भागों में व्याप्त ग्रामीण अंचल का व्यापक यथार्थ बहुत ही रसमयता के साथ लोक धुनों में पिरोई हुई प्रस्तुति इन लोकनाटकों में दिखलाई देती है, जो मंच पर लोक कलाकारों द्वारा सहजता के साथ संगीत, चित्रकारी और मंच सज्जा के माध्यम से अपना आयाम प्रस्तुत करती है। मुखौटा-कला इन प्रस्तुतियों में बराबर झलकती है जो देशकाल-वातावरण व कथा एवं पात्र के अनुसार बनाए हुए मुखौटा के साथ मंचीय दृश्य का अभिन्न अंग बनते हुए अभिनेता पर आरोपित चरित्र को दर्शक समूह से प्रत्यक्ष रूबरू कराती है। साथ ही प्रस्तुत अभिनेता के अन्तस में भी अभिनेय चरित्र की भूमिका को उसके मानसिक पटल पर उतारने में सहायक साबित होती है। यदि संक्षिप्त में कहा जाए तो लोकनाटकों की परंपरा में प्रयुक्त मुखौटा-कला लोकनाट्यशास्त्र के रूप में अभिन्न अंग बनकर उभरती है।

लोकनाट्य परंपरा और महापुरुष माधवदेव

भारत और भारत के बाहर भी लोकनाट्य परंपरा अपने आप में एक सुदीर्घ परंपरा के रूप में प्रस्तुत है। लोकनाट्य कि इस सुदीर्घ परंपरा में विभिन्न लोक नाटक लेखक-नाटककार एवं लोक नाटक, लोक नाटककार गणित किए जा सकते हैं। इसी परंपरा में एक बड़ा नाम महापुरुष माधवदेव जी का भी आता है। इस भारत भूमि पर अनेक ऐसे विरले व्यक्ति अवतरित हुए जिन्होंने अपनी चेतना से मानव मात्र के कल्याण का रास्ता बनाया और दिखाया। महापुरुष माधवदेव भी ऐसी ही एक विभूति रहे हैं जो एक कवि-नाटककार के साथ-साथ प्रसिद्ध आध्यात्मिक गुरु भी रहे हैं। मध्यकालीन समय में देशव्यापी वैष्णव धर्म-आंदोलन की लहर स्वरूप ही पूर्वी भारत में श्रीमंत शंकरदेव और उनके शिष्य महापुरुष माधवदेव ने इस परंपरा का निर्वहन करते हुए कृष्ण भक्ति के रूप में असम में अंकिया नाट का प्रचलन शुरू किया– "माधवदेव शंकरदेव के शिष्य थे। उन्होंने अपने गुरुदेव की परंपरा को आगे बढ़ाया। इन दोनों महात्माओं ने नामघरों को सांस्कृतिक केंद्र बना दिया। वैष्णव भक्त रामायण और महाभारत की कथाओं का अभिनय गद्य-पद्य के माध्यम से गाँव-गाँव दिखाने लगे। इनके धार्मिक नाटक अंकिया नाट के नाम से प्रसिद्ध हुए। 15वीं व 16वीं शताब्दी में इन नाटकों ने भारतीय संस्कृति को आपत्तिकाल में भी जीवित रखा। आसाम को इसका विशेष श्रेय देना चाहिए। सोलहवीं सदी के उपरांत भी चिरकाल तक ये अंकिया नाटक हमारी चेतना के उन्नायक बने।"[15] डॉ. दशरथ ओझा का यह कहना कि यह अंकिया नाटक 16वीं शताब्दी के बाद भी चेतना के उन्नायक बने रहे और आज भी बने हुए हैं, अपने आपमें इसके सांस्कृतिक महत्व को भी उजागर करता है। विषय, भाषा और शिल्प-शैली कई मायनों में श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव की

परंपरा अपना विशेष महत्व रखती है। मध्यकालीन समय में वैष्णव आंदोलन की पताका को पूर्वी भारत में देसी भाषा में नाटकीय चेतना के माध्यम से फहराने वाले इन महात्माओं एवं आध्यात्मिक गुरुओं ने आजीवन अपनी वाणी साहित्य एवं कला प्रदर्शनों के माध्यम से मानव कल्याण हेतु ईश्वर स्तुति की है। जीवन में व्याप्त नैराश्य और अंधकार को दूर कर लोक चेतना को उत्सवधर्मिता के रूप में उजागर करती श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव की यह परंपरा लोक नृत्य एवं लोक नाटक के रूप में आज भी निरंतर प्रवाहमान है- "भारत के पूर्वी भाग बंगाल और आसाम में कृष्ण काव्य ने रंगमंच को केंद्र बनाया। चैतन्य महाप्रभु, महापुरुष शंकरदेव, माधवदेव, गोपालअटा, रामचरण ठाकुर, द्विजभूषण, दैत्यारि ठाकुर, प्रभृति महात्माओं ने श्रीमद्भागवत, वैवर्त पुराण, हरिवंश आदि पुराणों के आख्यानों के आधार पर कृष्ण-जीवन से संबद्ध एकांकी नाटकों की रचना की। उन्होंने आसाम के गाँव-गाँव में नामघरों का निर्माण किया जिनमें नाट्य अभिनय के लिए अभिनयशाला की भी प्राय: व्यवस्था रहती थी। उन पर पट परिवर्तन का प्रबंध था। आश्चर्य का विषय है कि यूरोप से भी पूर्व इन भगवद भक्तों ने दृश्य परिवर्तन के समय रंगीन चित्र का विधान बनाया और कृष्ण जीवन के अनुकूल दृश्यों का निर्माण किया।"[16] वस्तुत: महापुरुष माधवदेव जी ने झूमरा के रूप में नाट्य रचना की और बरगीत लिखे। उनका लिखा गया नाट्य साहित्य कृष्ण भक्ति के रूप में वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए सहयोगी साबित हुआ। वे स्वयं शाक्त थे लेकिन श्रीमंत शंकरदेव के सानिध्य में उन्होंने वैष्णव धर्म को अपना लिया था। वह एक अच्छे गायक भी रहे हैं, क्योंकि महापुरुष माधवदेव जी का जन्म 1489 ई. और देहावसान 1596 ई. में हुआ था, वह समय मध्यकालीन भक्ति काव्य का समय था। दक्षिण से उत्तर भारत में भक्ति की लहर को रामानंद लाए और पूर्वोत्तर भारत में श्रीमंत शंकरदेव व महापुरुष माधवदेव ने भक्ति आंदोलन की लहर को व्यापकता से प्रसार दिया। असम के बहुभाषी एवं बहुजनजाति वाले प्रांत में परस्पर समरसता को बांधने का श्रेय श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव जी को जाता है क्योंकि- "असम में प्राचीनकाल में नाटक का प्रचलन था या नहीं इसका कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं है। 15वीं शताब्दी में महापुरुष शंकरदेव ने धर्म संस्कार की भावना से मनुष्य के नैतिक चरित्र निर्माण हेतु असम तथा बाहर की लौकिक नाटक कलाओं के साथ-साथ संस्कृत की नाट्यकला का समन्वय कर नव वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु एकांकी नाटकों की रचना की जिन्हें "अंकिया नाट" कहा जाता है। शंकरदेव के प्रमुख अंकिया नाट हैं-चिह्न पात्र, कालिया दमन, पत्नी प्रसाद, केलि गोपाल, रुक्मणी हरण, पारिजात हरण, राम विजय, शंकरदेव के शिष्य माधवदेव ने भी मुख्य रूप से शंकरदेव का आदर्श सामने रखकर एक नई शैली के नाटक "झूमरा" लिखे जिसमें नृत्य गीत को ज्यादा महत्व दिया गया।"[17] यहाँ जिस प्रकार झूमरा की चर्चा महापुरुष माधवदेव के नाटकों के संदर्भ में की गई है। वस्तुत: उसमें नृत्य नाटिका का ही रचा-बसा स्वरूप रहा है। श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव का उद्देश्य जनसामान्य में भागवत आस्था और नैराश्य दूर कर विश्वास जगाना और इस विश्वास को पूरे उत्तर पूर्वी भारत में व्याप्त करना था। उन्होंने अपने रचना कर्म व प्रदर्शन से इसका निर्वाह किया। आसाम के बाक्सा जिले के पूपगाँव निवासी पंडित प्रेमसागर गौतम जो दिल्ली के गाँव मुण्ढेला खुर्द के ग्राम मंदिर (दादा खेड़ा मंदिर) में पुजारी हैं उन्होंने बताया कि- "आज भी आसाम के नामघरों में शंकरदेव और माधवदेव की परंपरा कृष्णभक्ति के रूप में लोकगीतों और अंकिया नाट के रूप में विद्यमान है और आज भी वहाँ भजन-कीर्तन किये जाते हैं।"[18] आसाम की लोक नृत्य शैली ओझपाली की चर्चा करते हुए डॉ. दशरथ ओझा ने कहा है- "शंकरदेव माधवदेव आदि महात्माओं ने इस शैली को भक्ति संबंधी विचारों के प्रचार के उपयुक्त समझकर ग्रहण किया और सर्वसाधारण भक्तों के समझने योग्य ब्रज, अवधी, मैथिली, बंगला, असमिया मिश्रित ब्रजबुलि में अंकिया नाट का अभिनय प्रारंभ किया। देशी भाषा की यह नाट्यशैली मुसलमानों के आक्रमण काल में भारत के उन भू-भागों में भली प्रकार पल्लवित हुई जहाँ हिंदू राजाओं की सत्ता के कारण नाटक का अभिनय वर्जित नहीं था। आसाम और उड़ीसा पर मुसलमानों का आधिपत्य अपेक्षाकृत विलंब से हुआ। अत: आसाम में अंकिया नाट और उड़ीसा में यात्रा नाटक स्वाभाविक गति से विकासोन्मुख होते गए। माधवदेव ने अपने पाँच नाटकों का नाम झूमरा दिया है। उनके झुमरा नाटक हैं-चोर घर झुमरा, भूमि लुटिया

झूमरा, पिंजरा गुचावा झूमरा, भोजन विहार-झूमरा और रास झूमरा। प्रश्न उठता है कि झूमरा नाटक के विकास का क्या इतिहास है? यह एकांकी नाटक संगीत-प्रधान होता है।"[19]

इस रूप में हम पाते हैं कि महापुरुष माधवदेव ने एक जन व्यापक चेतना का प्रसार अपने रचना कर्म और गायन प्रदर्शन के माध्यम से करते हुए आसाम और पूर्वोत्तर भारत के हिस्सों में किया जिसे आज भी वहाँ के लोग जानते, मानते और मनाते हैं। ऐसे सिद्धपुरुष शताब्दियों में ही अवतरित होते हैं और पीढ़ियों-शताब्दियों तक उनके किए कर्म का रचनात्मक प्रभाव सामाजिक सांस्कृतिक जीवन को उन्नत बनाने में मददगार साबित होता है। समाहार रूप में कहा जाए तो यह कहना उचित होगा कि लोक नृत्य एवं लोकनाट्य मानव जीवन के सामाजिक-सांस्कृतिक पहलूओं की आधारशिला हैं। संपूर्ण विश्व में इन्हें देखा जा सकता है। मानव की मूल भावनाओं का उत्स जीवन स्पंदन के रूप में इन लोक नृत्य-नाटकों में समय-समय पर प्रदर्शित होता आया है। इस रूप में यह आयोजन लोक जीवन का कलात्मक प्राण स्रोत है। इन कलात्मक प्राण स्रोतों से लोक जीवन का आनंद बना रहता है। लोक नाट्यपरंपरा क्षेत्रीय स्तर पर अलग-अलग रंग और रूपों में विभाजित होते हुए भी समूचे भारत में आस्था और विश्वास को कायम रखने का आधार खड़ा करती है। जीवन में फैलने वाले अंधकार और नैराश्य को दूर कर ये लोकनाट्य आनंदानुभूति का सदैव संबल बनकर उभरते हैं। भारत ही नहीं अपितु वैश्विक स्तर पर लोकनृत्यों और लोकनाट्यों में मुखौटा का साभिप्राय प्रयोग होता आया है जो अपने आप में नाटकीय प्रस्तुति में अर्थ-व्यंजना को गढ़ने के साथ ही लोक-कलाओं के विकसन में भी अपनी सक्रिय भूमिका उपस्थित करता है। मध्यकालीन समय में लोक नृत्य एवं लोकनाट्य परंपरा के कारण ही नाटक-रंगमंच की उपस्थिति में निरंतरता बनी रही और इसी कारण लोक जीवन के मान-मूल्य भी सृजित और स्पंदित होते हैं। मध्यकालीन संत परंपरा में भक्ति आंदोलन के प्रभाव स्वरूप पूर्वोत्तर भारत में धार्मिक आस्था को वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के रूप में श्रीमंत शंकरदेव और महापुरुष माधवदेव ने व्यापकता से स्थापित किया। लोक नृत्य और लोक नाटकों की नई शैली के रूप में अंकिया नाट के प्रचलन और स्थापन का पुनीत कार्य महापुरुष माधवदेव जी ने किया। विषय के स्तर पर मुख्यत: कृष्ण चरित्र को आधार बनाया और भाषा-शैली के स्तर पर संस्कृत और जन भाषा के मिश्रित रूप को अपनाते हुए लोक जीवन के लिए सहज एवं सुगम्य ग्राह्यता का रास्ता खोला गया। कुल मिलाकर लोकनाट्य-परंपरा और उसमें प्रयुक्त मुखौटों की सार्थकता अंतत: लोकजीवन के कल्याण मार्ग को ही प्रशस्त करने में रही है जिसको एक उचित धारा के रूप में महापुरुष माधवदेव जी ने निरंतर प्रवाहमान रखा।

संदर्भ

1. रामलीला परंपरा और शैलियाँ-इन्दुजा अवस्थी, पृ. 22
2. महाराष्ट्र का लोकधर्मी नाट्य-दुर्गा दीक्षित, पृ.11
3. रंग परंपरा भारतीय नाट्य में निरंतरता और बदलाव, नेमिचंद्र जैन, पृ. 10
4. रामलीला परंपरा और शैलियाँ, इन्दुजा अवस्थी, पृ. 15
5. दूसरे नाटक शास्त्र की खोज, देवेंद्र राजाअंकुर, पृ. 78
6. samvadnews.in
7. rangwimarsh.blogspot.com
8. महाराष्ट्र का लोकधर्मी नाट्य, दुर्गा दीक्षित, पृ. 15
9. वही, पृ. 63
10. रंग-प्रसंग, अप्रैल-जून, 2008, पृ. 48-49
11. रामलीला परंपरा और शैलियाँ, इन्दुजा अवस्थी, पृ. 75
12. www.bbc.com.india 39010967
13. http//Indian culture. govin
14. नाट्य समीक्षा, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 81-82
15. वही, पृ. 50
16. वही, पृ. 99
17. abhivyakti.hindi.org/Natak
18. आसाम निवासी पंडित प्रेमसागर गौतम से बातचीत के आधार पर
19. नाट्य समीक्षा, डॉ. दशरथ ओझा, पृ. 104-105

-डॉ. अमित सिंह

सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग,
श्यामलाल कॉलेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

असमिया संस्कृति का एक अन्य पहलू : मुखौटा-कला

माधुर्ज्य कमल हजारिका

कला अर्थात सत्य एवं सुंदर। सभी द्रव्यों में शिव हैं और जहाँ शिव हैं वहाँ प्रभा है। जीवन जीना एक कला है और मानव कलाकार। विश्व में भारत अपनी कलात्मक पहचान के लिए कीर्तिवान है, जहाँ सभी राज्य के लोग अपने पृथक परंपरागत कला प्रयोगों से देश को समृद्ध एवं दीप्तिमान बनाते हैं। जम्मू कश्मीर में 'भांड पथेर', गुजरात में "भवाई" एवं तमिलनाडु में 'थीरुकूत्हू' आदि अनेक नृत्य, नाटक द्वारा इस देश के लोग अपनी कला कुशलता का परिचय देते आ रहे हैं। भारत देश में कला का चरम विकास भक्तिकालीन समय में देखा जाता है, जब भक्ति को जनतामुखी बनाया जा रहा था एवं कला को भक्ति का साधन। उसी काल अवधि में देश के विविध स्थानों पर अनेक संत महात्मा हुए, जिन्होंने अपनी विद्वता का परिचय देकर विभिन्न संप्रदायों को जन्म दिया और जनता को आकर्षित करने के लिए लोक कला को एक सांस्कृतिक रूप देकर रमणीय बनाया। उसी भक्तिवाद से एक स्रोतास्विनी बहकर असम पहुँची जिसे महापुरुषों द्वारा नूतन रूप में जनतामुखी बनाया गया। मध्ययुग में वैष्णव आंदोलन अपने पूरे प्रभाव के साथ जिस प्रकार संपूर्ण भारत में फैला था, उसी का एक विकसित रूप है नव वैष्णव आंदोलन या नव-वैष्णववाद जिसके प्रवर्तन कर्ता एवं प्रचारक हैं श्रीमंत शंकरदेव। कालांतर में इस संप्रदाय का प्रमुख प्रचारक बने उनके अनुयायी एवं प्रिय शिष्य श्री श्री माधवदेव। जाति भेद, वर्ण-भेद, तांत्रिक पूजा पाठ, यज्ञ, बलि विधान आदि अनेक सामाजिक रूढ़ियों के खिलाफ यह आंदोलन असम प्रदेश में अपने पूरे प्रभाव के साथ फैला। बहुदेवोपासना एवं सिद्ध, नाथ की तांत्रिक साधना से जनता त्रासद थी, और धीरे-धीरे भक्ति से मुँह मोड़ने लगी थी, इसी के संबंध में तुलसीदास जी कहते हैं कि- "गोरख जगायो जोग, भगति भगायो लोग", मध्यदेश में जिस प्रकार प्रेमभाव और भक्तिरस से शून्य एवं शुष्क पड़ती जनता के एक बड़े भाग को कबीर दास ने अपनी निर्गुण भक्ति से संभाला था उसी प्रकार असम प्रांत में शंकरदेव ने अपने "एक चरण भगवती वैष्णव धर्म" के सहारे लोगो को भक्ति अमृत पिलाने हेतु पुनः खींच कर लाये। इस संप्रदाय का मूल मंत्र हैं "एक देव एक सेव एक विने नाइ केव" अर्थात सेवा एवं भक्ति करने के लिए बहुदेव नहीं केवल एक ही देव है जो सच्चिदानंद स्वरूप हैं और उनके बिना कोई दूजा नहीं है। अपनी विपुल संस्कृति के साथ असमिया लोक जीवन में यह संप्रदाय प्रभावशाली रूप से फैला। विस्तृत ब्रजबुलि साहित्य, सत्रीया नृत्य, बरगीत एवं अपनी विविध कला परंपरा के साथ यह संप्रदाय समृद्ध हैं। साहित्य रचना के लिए पत्रों का निर्माण, नाटकों में धारण करने वाले वस्त्रों का निर्माण, विविध वाद्य-यंत्रों का निर्माण, काठ द्वारा विभिन्न द्रव्यों का निर्माण, नाटकों में व्यवहारित मुखौटे का निर्माण आदि कार्य-कलापों द्वारा असम प्रदेश में उस काल अवधि में कलावाद प्रभावी रूप से फैला। चारू कला, कारू कला, वास्तु-कला, सत्रीया कला, कथन कला, नाट्यकला, निर्माण कला, आदि चौसठ कलाएं प्रसिद्ध हैं। श्रीमंत शंकरदेव द्वारा इस वैष्णववाद को अधिक प्रभावशाली रूप देने के लिए कला प्रयोगों को संप्रदाय में स्थान दिया। युगनायक श्रीमंत शंकरदेव बहुप्रतिभा संपन्न व्यक्ति थे, अपनी प्रतिभा का दिव्य स्वरुप उन्होंने नाटकों के सर्जन द्वारा दिखाया, जिसे उन्होंने भाओना नाम दिया। भाओना अर्थात किसी चरित्र का भाव हुबहू दर्शकों को दिखाना। असम के सामाजिक, अध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक विकास हेतु भाओना अपने सर्वोत्तम विशेषता के साथ आज भी प्रचलन में हैं।

गायन-वादन द्वारा प्रारंभ इस नवरस बाहक भाओना में मुखौटा-कला एक विशेष भूमिका अदा करती हैं। जगतगुरु श्रीमंत शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित इस वैष्णव संप्रदाय में काल के साथ मुखौटा निर्माण एक संस्कृति बनकर उभरा।

भाओना मंचस्थ करते समय कुछ पात्रों का भाव हुबहू दिखाना दुष्कर होता है, जैसे जानवर, राक्षस, पक्षी आदि। मान लीजिए विष्णु के वाहन गरुड़ पक्षी का भाव दिखाना है जिसे साधारण रूप से दिखाना संभव नहीं और इसी कारण मुखौटे का प्रयोग भाओना का एक अभेद अंग बनकर उभरा। पहली बार श्रीमंत शंकरदेव ने ही इस कलाकारी का प्रयोग भाओना मंचस्थ करने के लिए किया। "बटद्रवा सत्र" के वैष्णवों द्वारा गुरु शंकर को वैकुंठ दर्शन के लिए प्रार्थना करने पर श्रीमंत शंकरदेव ने सप्त वैकुंठ पथ अंकन के साथ-साथ विविध मुखौटे प्रस्तुत कर भक्तों को दिखाया। जहाँ श्री नारायण, लक्ष्मी, सरस्वती, ब्रह्मा, शिव एवं चौदह परिषद् का मुखौटा तैयार कर भक्तों को इस शिल्प निपुणता का ज्ञान दिया। मुखौटा तैयार करने में गुरु का साथ केताइखा भुयाँ, बलाई, भोबोरा, भीमा आदि भक्तों ने दिया था, इन भक्तों द्वारा कच्चे बाँस की छोटी-छोटी पट्टी तैयार की गयी, नदी से गोंद युक्त मिट्टी लायी गयी (कुम्हार मिट्टी), बाँस की पट्टियों द्वारा मुखौटा का ढाँचा बनाया गया, ढाँचे को कुम्हार की मिट्टी लगाये हुए कपड़े से बड़े सुंदर तरीके से लपेटा गया, शरीर एवं चेहरे के आकार को मुखौटे में देने के लिए गाय, गोबर के साथ मिट्टी मिलाकर कलात्मकता दिखायी गयी, तत्पश्चात फिर मिट्टी युक्त लेप से लपेटकर धूप में सुखाया गया एवं हेंगुल हाईताल रंगों के प्रयोग से मुखौटे को संपूर्णता प्रदान की गयी। निर्धारित दिन में श्री शंकर द्वारा भाओना, गीत, खोल-ताल, आदि के सहयोग से प्रथम भाओना (नाटक) "चिह्नयात्रा" सात दिन सात रात तक अविरत रूप से खेला गया। इस आयोजन में जिन भक्तों ने गुरु का साथ दिया उनमें प्रमुख हैं-भीमा बायन, रमाई, गोविन्द, बढ़ार पो (माधवदेव), सापेखोवा गोविन्द, बलाई, भोबोरा आदि। यही था गुरु शंकरदेव द्वारा किया गया मुखौटे का पहला प्रयोग। फिर समय के साथ उनके विभिन्न नाटकों में मुखौटों का व्यवहार होने लगा। जैसे उनके द्वारा लिखित नाटक "राम विजय" में मारीच, सुबाहु, तारका, "रुक्मिणी हरण" नाटक में गरूर पक्षी, "पारिजात हरण" नाटक में नरकासुर, मुरदानव, "केलिगोपाल" नाटक में शंखसुर, "कालिया दमन" नाटक में काली एवं नाग पत्नी आदि पात्रों को मुखौटे में देखा जाता है। इस शिल्पकला का प्रभाव असम के बराक, ब्रह्मपुत्र दोनों उपद्वीपों में फैला। आज पुरुषोत्तम शंकरदेव के असीमित अवदानों के कारण असमिया समाज एवं सत्रानुस्थान संपन्न हैं। कालांतर में विविध पुराण एवं रामायण, महाभारत की कहानियों, नाटकों आदि के मंचन में मुखौटे का व्यवहार अपने संपूर्ण प्रभाव के साथ हुआ। इस नीति परंपरा का वाहक प्रमुख सत्र हैं माजुली के "सामागुरी सत्र" जहाँ गुरु द्वारा दिया गया इस अपूर्व संस्कृति का पालन आज भी संपूर्ण समर्पण के साथ किया जाता है। सत्राधिकार श्री कोषकांत देव गोस्वामी की अगाध भक्ति एवं निष्ठा के कारण आज यह मुखौटा-कला विश्व भर में प्रसिद्ध है। उन्होंने परंपरागत मुखौटा-कला को एक नया रूप दिया एवं उसे और अधिक आकर्षक बनाया, फलतः उन्हें संगीत नाटक अकादमी द्वारा राष्ट्रीय पुरस्कार प्रदान किया गया।

आकार के आधार पर सत्रों में कई प्रकार के मुखौटे देखे जाते हैं, जिनमें प्रमुख हैं "वरमुखा या चोमुखा","लोतोकाई मुखा" और "मुख मुखा"। "वरमुखा" बृहत् आकृति का बनाया जाता है, इसे संपूर्ण शरीर में धारण किया जाता है। जैसे "नृसिंह यात्रा" नाटक में प्रभु नरसिंह का रूप, रावण का दसमुखी मुखौटा, कुम्भकर्ण, इन्द्रजीत, बाण राजा, नरकासुर, अधासुर, बकासुर आदि। उससे थोड़ा छोटा मुखौटा जिसे मुख एवं शरीर के कुछ अंशों में धारण किया जाता है उसे "लोतोकाई मुखा" कहते हैं, जैसे "नृसिंह यात्रा" नाटक में प्रभु बराह का रूप, धेनुकासुर, काली दमन नाटक में काली नाग का मुखौटा आदि और अंतिम प्रकार है "मुख मुखा" जो केवल मुख मंडल में पहना जाता है। इसे आग्रहीजन विभिन्न सत्रों के संग्रहालयों में देख सकते हैं, मुख-मुखा में प्रसिद्ध पूतना, शंखसुर, मारीच, सुबाहु, चक्रबात, सूपर्णखा आदि। मुखौटा तैयार करने के लिए मुख्यरूप से कच्चा बाँस, बेत, कुम्हार मिट्टी, कपड़े, कुहिला एवं मरपात (असम के वनों में उपलब्ध बाल जैसा पदार्थ, जिसे कातकर सुखाने पर बाल के रूप में व्यवहार किया जा सकता है) का प्रयोग किया जाता है। सत्रों में वैष्णव गणों द्वारा कठोर मेहनत से मुखौटा तैयार कर उसे उपयोगी बनाया जाता है। पहले कच्चा बाँस से धारदार

चाकू द्वारा छोटे आकार में पट्टियों को तैयार किया जाता है, कलात्मकता के साथ उन पट्टियों को गूंथकर मुख एवं बड़े मुखौटे में शरीर का ढांचा तैयार किया जाता है, असम की नदियों के किनारे प्राप्त गोंद युक्त एक प्रकार की मिट्टी जिसे "कुम्हार मिट्टी" कहा जाता है (इस मिट्टी का प्रयोग कुम्हार घट एवं अन्य पात्रों के निर्माण में करता है) उसे कपड़े में मिलाकर बाँस के उस ढांचे में लपेटा जाता है, तत्पश्चात गाय के गोबर के साथ मिट्टी मिलाकर नाक, मुख, आँख आदि आकार प्रस्तुत किया जाता है, फिर मिट्टी युक्त कपड़े में संपूर्ण मुखौटे को लपेटकर धूप में दो या तीन दिनों तक सुखाया जाता है और अंत में संपूर्ण प्राकृतिक रंगों का प्रयोग कर उस मुखौटे को संपूर्णता प्रदान की जाती है। मुखौटा निर्माण में प्रयोग रंगों में लाल, पीला, नीला, सफ़ेद, काला आदि प्रमुख हैं जो प्राकृतिक उपादानों द्वारा बनाया जाता है। लाल रंग हेंगुल (Mercury sulphide) नामक एक धातु द्वारा एक लम्बी प्रक्रिया के तहत बनाया जाता है, उसी प्रकार पीला रंग हाईताल (A rsenic sulphide), नीला रंग नील वृक्ष (Indigo plant), सफ़ेद रंग खरिमाती या चन्दन वृक्ष द्वारा बनाया जाता है। यह तो हुई प्रस्तुतीकरण की बात, अब प्रयोग के बारे में बात करते हुए दोनों गुरुओं का एक अपूर्व सृष्टी "सत्रानुस्थानों" के बारे में थोड़ा चर्चा कर लेते हैं। मध्यकाल में दोनों गुरुओं द्वारा भक्तिवाद के प्रचार-प्रसार के लिए सत्रों की स्थापना की, जहाँ आज भी प्रबल गति के साथ वैष्णव भक्ति धारा प्रवाहित है। कीर्तन, दसम आदि ऐतिहासिक पोथियों का पाठ, नित्य नृत्य, नाट आदि का अभ्यास एवं अपनी अमिट सत्र परंपराओं से साथ आज भी असमिया लोकजीवन में सत्र एक प्रभावी अवस्थिति के साथ विद्यमान हैं। जहाँ वास करते भक्तगण आजीवन ब्रह्मचारी व्रत का पालन कर उन सत्रिया परंपराओं को आगे बढ़ाते आ रहे हैं। प्रमुख परंपराओं में भाओना मंचन एक अपूर्व कला प्रस्तुति के रूप में देखा जाता है। जहाँ भगवान के सभी अवतारों का साक्षात् दर्शन भक्तगण करते हैं। इन नाटकों को मुख्यत: दोनों गुरुओं द्वारा रचित माना जाता है। श्रीमंत शंकरदेव द्वारा रचित नाटक हैं- पत्नी प्रशाद, केलिगोपाल, कालिया दमन, रुक्मिणी हरण, पारिजात हरण और राम विजय एवं माधवदेव द्वारा रचित नाटक हैं- भूमि लोटोआ, पिम्परा गुसुआ, दधि मंथन, अर्जुन भंजन आदि। कालांतर में दोनों गुरुओं के अनुयायियों द्वारा वैष्णव धर्म प्रचार के लिए एवं असमिया सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को प्रभावित करने हेतु अंकिया नाट शैली आधारित विभिन्न भक्तिमूलक नाटकों को रचा। फलत: गाँव देहातों में लोगों ने अपने तरीके से विविध नाटकों को खेलना शुरू किया। नाटकों में प्रयोग विविध पदार्थों के प्रयोग से प्राकृतिक निर्माण की प्रक्रिया असम प्रांत में एक अनोखी कला संस्कृति बनकर उभरी। भाओना में प्रयोग वस्तुओं में मुखौटा, धनु, गदा, तलवार, भांला, त्रिशूल, असमिया साज-सज्जा, प्राकृतिक रंग, प्रकाश के लिए मेंठोल लाइट आदि प्रमुख हैं। नाटकों के प्रचार के साथ मुखौटा निर्माण भी असमिया समाज व्यवस्था में विस्तृत रूप से फैली। सत्रों में, गाँव-देहातों में मुखौटा निर्माण लोग प्रसन्नता के साथ करते हैं, जहाँ असमिया कला संस्कृति बखूबी उभरकर आती हैं। असम प्रांत में प्राय: प्रत्येक नाटकों में मुखौटे का प्रयोग देखा जाता है, बाँस द्वारा निर्मित इन मुखौटों का भार अति लघु होने के कारण इन्हें पहनकर नाटक में अभिनय करना उतना कठिन नहीं, फिर भी पारंगत लोगों को ही मुखा पहनकर निर्दिष्ट भाव करने दिया जाता है। भाद्र महीने में सत्रों में "बारसोआ नाटक" खेला जाता है जिसके अधीन बारह नाटकों का प्रदर्शन होता है जहाँ मुखौटे का प्रयोग अनिवार्य है।

असम के माजुली नदी द्वीप में मुखौटा निर्माण परंपरा अपनी पूर्णता के साथ आज भी विद्यमान है, जहाँ प्रत्येक सत्र अनुष्ठानों में, मठ मंदिरों में, व्यक्तिगत घरों में मुखौटा निर्माण प्रचलन में है। माजुली नदी द्वीप को सत्र नगरी, मणिकांचन भूमि, एटोका महंतर थल आदि नामों से जाना जाता है। मध्यकाल में इसी अमृत भूमि पर स्थित "धुआहात बेलगुरी" नामक स्थान पर शंकरदेव और माधवदेव का मणिकांचन मिलन हुआ था। इसी कारण इस अपूर्व भूमि का नाम मणिकांचन भूमि पड़ा। दोनों गुरुओं ने संपूर्ण असम प्रदेश में प्राय 665 सत्रों की स्थापन हुई, उनमें से माजुली में एक साथ सबसे ज्यादा 64 सत्रों की स्थापन हुई। इसीलिए इस नवनीत भूमि को सत्र नगरी के नाम से भी जाना जाता है। वैष्णव समाज के साथ अन्य शिक्षित समाज का एक स्थान पर मिलन के फलस्वरूप इस अमृत भूमि में कला को एक अलग पहचान मिली। केवल मुखौटा-कला ही नहीं, सांस्कृतिक नृत्य, गान, नाटक एवं अपने ऐतिहासिक "साँचीपात साहित्य" के साथ इसे असम की सांस्कृतिक राजधानी

माना जाता है। प्रत्येक वर्ष ब्रह्मपुत्र नदी की भीषण बाढ़ के कारण यह नदी द्वीप धीरे-धीरे समाप्त होने को हैं। मध्यकाल में जिस भूमिखंड का आकार 1245 वर्ग किलोमीटर था, वह आज घटकर प्राय: 400 वर्ग किलोमीटर पर पहुँच गया है। फलस्वरूप आज इस नदी द्वीप में केवल 36 सत्र मौजूद हैं। अपने अनेक प्राकृतिक संकट के बावजूद यहाँ वास करते लोग आज भी संपूर्ण समर्पण के साथ कला प्रस्तुति में लगे हुए हैं। निर्माण सामग्री के आधार पर माजुली नदी द्वीप में मूलत: तीन प्रकार के मुखौटे देखे जाते हैं। काठ द्वारा निर्मित मुखौटा, बाँस द्वारा निर्मित मुखौटा और बेंत द्वारा निर्मित मुखौटा। बाँस द्वारा निर्मित मुखौटा जिसका प्रयोग कलाकार नाटक प्रदर्शन में करते हैं, ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। काठ द्वारा निर्मित मुखौटा जिसे छोटे या बड़े आकार का भी बनाया जाता है। मूलत: सजावट के लिए व्यवहार किया जाता है। सत्रों में भक्तों के गृहों को "बहा" कहा जाता है और लगभग सभी सत्रों के सभी बहाओं के प्रवेश द्वार पर काठ द्वारा निर्मित दो हिरन के मुखौटे रखे होते हैं, जिसका उद्देश्य मूलत: सजावट ही हैं। इसके अतिरिक्त बेंत (असम के वनों में प्राप्त एक प्रकार के कटीले पेड़ जो बहुत ही लचीले होते हैं, इसका प्रयोग लोग छोटी-छोटी पट्टी बनाकर रस्सी के रूप में भी करते हैं) द्वारा निर्मित मुखौटे का प्रयोग भी सामान्यत: सजावट के लिए ही किया जाता है। अनेक महोत्सवों में प्रवेश द्वार के दोनों ओर अक्सर दो बेंत द्वारा निर्मित गायन-बायन के मुखौटे देखे जाते हैं। सामागुरी सत्र में भी दर्शकों के लिए दो बेंत द्वारा निर्मित मुखौटा प्रदर्शित हैं। वर्तमान समय में सीमेंट द्वारा भी बड़े-बड़े मुखौटे बनाये जाते हैं। जैसे लोहित नदी के पास सीमेंट द्वारा रावण का एक वृहताकार मुखौटा अभी निर्माण प्रक्रिया में है। युग के साथ-साथ जिस प्रकार असमिया भक्तगण एक चरण भगवती वैष्णव धर्म के प्रभाव विस्तार में समर्पित हैं, उसी प्रकार इस मुखौटा संस्कृति के ध्वजवाहक स्वरूप वे कार्यरत हैं।

श्रीमंत शंकरदेव द्वारा प्रचारित यह महान मुखौटा संस्कृति आज केवल भाओना तक सीमित नहीं हैं। भक्तगणों द्वारा किये गए असीमित प्रयास के फलस्वरूप आज संपूर्ण विश्व में इस कलाकारी का आदर हैं। कई विदेशी संग्रहालयों में असम में निर्मित मुखौटों को स्थान मिला हैं। आधुनिकता से प्रभावित युवा पीढ़ी परंपराओं के ग्रहण को अनुपयोगी समझती है। फलत: कई स्थानों पर यह संस्कृति एक पीढ़ी तक सीमित हो गयी और कई स्थानों पर लुप्त। संख्या की दृष्टि से सबसे ज्यादा मुखौटा आज माजुली के सामागुरी सत्र में विद्यमान हैं। यह वही सत्र हैं जहाँ श्रीमंत शंकरदेव के शिष्य "चक्रपानी आता" द्वारा आहोम राजा "चक्रध्वज सिंह" के आदेश पर सन् 1993 में मुखौटा निर्माण कला प्रारंभ की गयी। जहाँ आज भी उस संस्कृति के वाहक बने हुए हैं यहाँ के सत्राधिकार डॉ. हेमचन्द्र गोस्वामी देव। उनका मानना हैं कि हम इस पौराणिक संस्कृति को कभी खत्म नहीं होने देंगे। यह एक गृहस्थ सत्र हैं जहाँ आज लगभग 50 परिवार वास करते हैं। प्राय: 400 साल की यह सभ्यता आज यहाँ निवास करते भक्तों के कारण लुप्त होने के स्थान पर अधिक समृद्ध एवं प्रचलित हैं। पिता पूर्व सत्राधिकार रुद्रकांत देव गोस्वामी से शिक्षा ग्रहण कर हेमचन्द्र गोस्वामी आज असम एवं भारत के एक प्रसिद्ध मुखौटा-कलाकार बने। कला विस्तार के लिए आज सत्राधिकार देव अपने सत्र में ही लगभग 500 छात्रों को मुखौटा प्रशिक्षण रोज देते हैं। इसके अलावा देश एवं विदेश के विभिन्न स्थानों पर आपने इस कला का दिव्य प्रचार नए पीढ़ी में किया है। प्राकृतिक संसाधनों से निर्मित इस अद्भुत कलाकारी को विश्व पटल पर लेकर जाने का श्रेय अनेक कार्यरत वैष्णवों के अतिरिक्त सत्राधिकार डॉ. हेमचन्द्र गोस्वामी देव को देना होगा। अपने कई वर्षो की साधना के फलस्वरूप वह मुखौटे को आधुनिक रूप देने में सक्षम हुए। महापुरुषों द्वारा निर्मित मुखौटा संवाद कथन के लिए असक्षम थे, उसके मुँह मंडल में धारक किसी भी प्रकार का संचलन नहीं कर सकता। इसी समस्या को ध्यान में रखकर गोस्वामी देव द्वारा मुखौटे में आधुनिकता प्रदान की गयी और उसे नाटकों में संवाद के लिए उपयोगी बनाया गया। उन्होंने जड़ मुखौटों में जैसे जान ही डाल दी। सामागुरी सत्र में परंपरा से "मुखा भाओना" प्रचलित हैं जहाँ सभी पात्र मुखौटा धारण कर अभिनय करते हैं। इस सत्र में रास पूर्णिमा के दिन मुखौटा रास के साथ-साथ महोत्सव का भी आयोजन किया जाता है। संवाद कथन के लिए उपयोगी मुखौटों के निर्माण के बाद मुखा भाओना और भी आकर्षक बना। मुखा भाओना को रास्ट्रीय मर्यादा प्रदान कर सन् 2018 में इसे गणतंत्र दिवस के दिन दिल्ली राजपथ पर दिखाया गया था। वर्तमान समय में

मुखौटों का उपयोग नाटकों के अलावा सजावट के लिए, उपहार एवं भेद के रूप में और खिलौने के रूप में भी किया जाता है, इसी कारण यह आज अर्थ प्राप्ति का भी एक साधन बना। यह एक सुखद बात हैं कि बाजारीकरण की वजह से लुप्त होती मुखौटा-कला को एक नया आगाज मिला। आज यह कलाकारी अनेक लोगों के लिए संस्थापन का एक साधन बनी हुई है। महापुरुषों के वरदान स्वरूप असमिया सांस्कृतिक क्षेत्र जिसमें समाहित हैं नृत्य, गीत, भाओना, मुखौटा-कला एवं अनंत वैष्णव भक्ति जिसका वहन निरंतरता के साथ वर्तमान समय तक चलाये रखना अद्वितीय एवं ललित प्रयास हैं, जिसका मूल श्रेय असम के विभिन्न सत्र अनुष्ठानों को जाता है, अविराम रूप से संपूर्ण समर्पण के साथ भक्तगण दिन-रात भक्ति रस फैलाने एवं परंपराओं को चलाये रखने के लिए प्रयासरत हैं। अपने बहुआयामी विशेषताओं के चलते यह भक्तिकालीन संप्रदाय आज संपूर्ण प्रभाव के साथ असमिया जन-जीवन में विद्यमान हैं। पौराणिक कला संस्कृति हमारा स्वाभिमान एवं गौरव है, अतः इसे समृद्ध बनाना, इसमें आधुनिकता प्रदान करना एवं इसे विस्तारित करने का पूर्ण दायित्य युवा पीढ़ी पर हैं। मुखौटा संस्कृति के साथ-साथ संपूर्ण वैष्णव संस्कृति केवल माजुली या असम का गौरव नहीं है, अपितु संपूर्ण भारत के लिए एक अद्वितीय संपदा हैं।

संदर्भ

1. भक्तिरस : संपादक रणजीत भुयां
2. मुक्तिसाधकम : संपादक बोधेस्वर शइकिया
3. असमर मुखा संस्कृति आरू इयार परंपरा : कोषकांत देव गोस्वामी
4. कला आरू भाओनार छो मुखा : बंशीधर बोरा
5. श्रीमंत शंकरदेव सृष्टीत मुखा संस्कति : प्रसन्न गोस्वामी
6. कमलाबाड़ी सत्रः सत्रिया नृत्य प्रसंग : श्री करुणा बोरा

साक्षात्कार :

1. डॉ. हेमचन्द्र गोस्वामी : सत्राधिकार सामागुरी सत्र, मुखौटा कलाकार
2. मुहिकांत बोरा : वैष्णव उत्तर कमलाबाड़ी, सत्रिया शिल्पी,
3. पद्मश्री गोपीराम बरगायन : वैष्णव उत्तर कमलाबाड़ी सत्र

सहायक :

1. अष्युत काकती : वैष्णव, उत्तर कमलाबाड़ी सत्र
2. किरण हजारिका : इतिहास अध्येता, माजुली कॉलेज, माजुली

-माधुर्ज्य कमल हजारिका
माजुली, असम

मुखौटा-कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

आदित्य कुमार मिश्रा

पूर्वोत्तर भारत के असम राज्य में स्थित माजुली दुनिया का सबसे बड़ा नदी द्वीप माना जाता है। यह द्वीप उत्तर में सुबनसिरी नदी और दक्षिण में ब्रह्मपुत्र नदी के दोआब पर स्थित है। माजुली को असम की सांस्कृतिक राजधानी भी कहा जाता है। असम में प्रचलित विविध कलारूपों का मूल उत्स माजुली ही है। असम में महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव (1449-1568 ई.) ने नव-वैष्णव भक्ति आंदोलन का सूत्रपात किया। भक्ति क्षेत्र में स्थिरता और एकसूत्रता लाने के लिए उन्होंने 'एक शरण नाम धर्म' का प्रवर्तन किया जिसके फलस्वरूप उन्होंने भक्तिक्षेत्र में बहुदेववाद के स्थान पर एक परम पुरुष श्रीकृष्ण को ही आराध्य के रूप में स्वीकृति दी। इस संबंध में असमिया साहित्य के मूर्धन्य विद्वान महेश्वर नेओग ने अपनी पुस्तक 'शंकरदेव एंड हिज टाइम्स' में कहा है, The new vaishnava movement of assam is associated with the personality of sankardeva(1449-1568A -D-)-The doctrine of bhakti or love is traced back to great antiquity and is to be connected with early visnuism."[1]

श्रीमंत शंकरदेव का व्यक्तित्व बहुआयामी था, उन्होंने अपने नव वैष्णव मत के प्रचार-प्रसार हेतु असम में अनेक सत्रों की स्थापना की। ये सत्र अध्ययन-अध्यापन के साथ ही विविध लोक कलाओं के भी केंद्र हैं। ये सत्र माजुली ही नहीं, अपितु पूरे असम के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सत्र असम के धार्मिक, सामाजिक जीवन के मूलाधार हैं, धर्म एवं लोकतंत्र का पाठ पढ़ाने वाले संस्थान हैं। इस विषय में अमूल्य चंद्र बोरा जी ने कहा है कि-"The satras are the dipositories of the large number of valuable religious and cultural documents and articles of great historical value which are being preserved for prosperity"[2] अनेक वर्गों-समूहों तथा जनजातियों में विभक्त असमिया समाज को संयोजित एवं संगठित करने के लिए उन्होंने सत्रों की स्थापना की। सत्र का एक सत्राधिकार होता है जिसके निर्देशन और मार्गदर्शन में शिष्यों को अनेक कलाओं का प्रशिक्षण दिया जाता है। सत्रों में एक नृत्य प्रणाली चलती है, जिसमें आध्यात्मिक प्रेम को प्रदर्शित करते हुए विष्णु के अवतार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन किया जाता है, इस नृत्य को सत्रिय नृत्य कहा जाता है। महाकवि द्वारा प्रवर्तित नव-वैष्णव आंदोलन ने असम में अनेक कलाओं को जन्म दिया। इस आंदोलन में जितनी कलाओं का जन्म हुआ, उन सभी में शंकरदेव की मौलिक प्रतिभा का सन्निवेश था। इन कलाओं का प्रशिक्षण सत्रों में दिया जाता था। सत्रों में नृत्य कला के अतिरिक्त गायन, वादन, अभिनय, चित्र, नाट्य तथा हाथ से बनाए जा सकने वाले अनेक उपकरणों का प्रशिक्षण दिया जाता है। प्रत्येक सत्र का अपना अलग वैशिष्ट्य इस मायने में है कि विभिन्न सत्र भिन्न-भिन्न कलारूपों के लिए प्रसिद्ध हैं, जैसे हस्तकला, मुखौटा निर्माण-कला, नव-निर्माण कला, वाद्ययंत्रों को बनाना, सत्रीय नृत्य का प्रशिक्षण आदि।

सत्रों में प्रचलित विविध कलाओं में मुखौटा-कला एक महत्वपूर्ण कलारूप है। दुनिया के लगभग प्रत्येक समाज और संस्कृति में मुखौटा मनुष्य की अभिव्यक्ति, कल्पना और कला के रूप में उपयोगी रहा है। आदिकाल से ही मुखौटे मनुष्य जीवन की विभिन्न वृत्तियों और कलाओं के माध्यम रहे हैं। मानव स्वभाव में बहुत कुछ ऐसा है जिसे हम अपने चेहरे से व्यक्त नहीं कर पाते। मुखौटा मनुष्य की कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का सुंदर उदाहरण है। माजुली का सामागुरी

सत्र मुखौटा निर्माण कला के लिए प्रसिद्ध है। इस सत्र की स्थापना अहोम राजा स्वर्गदेव चक्रध्वज सिंह की मदद से चक्रपाणि आता ने 1663 ई. में की। इस विषय में अमूल्य चंद्र बोरा जी अपनी पुस्तक 'The rich heritage of island majuli' में कहते हैं "Chakrapani ata laid down the foundation of sri sri chamoguri satra in the year 1663 near jamani water body- He was a disciple of the great saints sankardeva and madhaba deva- The satra got royal help from theA hom king swargadeu chacradradhar singh in full form."[3] यह सत्र माजुली में सर्वाधिक आकर्षण का केंद्र है। सत्र में मुखौटों के निर्माण का प्रशिक्षण आज भी दिया जा रहा है, ये मुखौटे श्रीमंत शंकरदेव विरचित अंकिया नाटकों के मंचन के दौरान अनिवार्य रूप से प्रयोग किए जाते हैं। वर्तमान समय में माजुली के सबसे प्रसिद्ध शिल्प रूपों में मुखौटा शिल्प है। इन मुखौटों का प्रयोग अंकिया नाटकों के मंचन के दौरान किया जाता है। अंकिया नाटकों के लिए कोई स्थायी रंगमंच नहीं होता है, इन्हें खुले रूप में ही प्रदर्शित किया जाता है। अंकिया नाटकों का प्रचलन सत्रों के भीतर स्थित नामघर या प्रार्थना घरों में होता है। माजुली के लगभग हर सत्र में भाओना (अंकिया नाट) का प्रदर्शन आयोजित करना एक परंपरा है जिसमें मुखौटों का इस्तेमाल अनिवार्य माना जाता है। मुखौटा सत्रिय संस्कृति का भी एक अभिन्न हिस्सा है। परंपरागत रूप से मुखौटे का इस्तेमाल धार्मिक नृत्य और नाटक के लिए किया जाता है। श्रीमंत शंकरदेव द्वारा भक्तों को श्रीमद्भागवत के चरित्रों को बनाने और चित्रित करने के लिए एक माध्यम के रूप में इनकी परिकल्पना की गई थी। विभिन्न जनसमुदायों में बंटे तत्कालीन असमिया समाज को नव-वैष्णव भक्ति की तरफ मोड़ना किंचित कठिन था, इसलिए महाकवि ने अंकिया नाटकों के प्रदर्शन के दौरान पहने जाने के लिए इन मुखौटों का आविष्कार किया। उन्हें पता था कि आम जनमानस को प्रत्यक्ष रूप से नव-वैष्णव आंदोलन में शामिल करने के बजाय नाटकों के माध्यम से आकर्षित करना समुचित होगा। नाटकों में प्रयोग किए जाने वाले इन मुखौटों ने उसे अधिक लोकप्रिय और सजीव बनाया। मुखौटों ने पौराणिक पात्रों का अभिनय करने वालों को सजीव रूप में जनता के समक्ष प्रस्तुत किया। माजुली में रास उत्सव के अवसर पर इन मुखौटों का प्रयोग अनिवार्य रूप से किया जाता है। विभिन्न अंकिया नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर इन मुखौटों का प्रयोग होता है। शंकरदेव ने राम और कृष्ण के जीवन पर आधारित कुल 6 नाटकों की रचना की। इन नाटकों में बाली, सुग्रीव, हनुमान, जटायु, रावण, सूर्पनखा, बकासुर जैसे विभिन्न पात्रों का अभिनय कलाकार मुखौटों के माध्यम से करता है। मुखौटों का प्रयोग कलाकार के अभिनय तथा संवाद कौशल में सहायक होता है। रावण, ताड़का, बकासुर, हनुमान जैसे पात्रों की विभिन्न मुद्राओं और भावनाओं का चित्रण इन मुखौटों के माध्यम से अधिक संभव होता है। सामागुरी सत्र के मुखौटे और उनकी प्रसिद्धि के विषय में कहा गया है, "significantly, sri sri natun chamaguri satra is renouned for unique mask making art and rash leela festival- The famous mask art of natun chamaguri satra has already received both national and international recognition and frame."[4]

माजुली के मुखौटे विभिन्न प्रकार के पौराणिक पात्रों पर बनाए गए हैं, ये मुखौटे नाट्य प्रदर्शनियों में पहने जाते हैं। पुराणों के वे पात्र जिनसे आम जनमानस भावनात्मक रूप से लगाव रखता है और उन्हें अपनी आँखों से फिर से देखना चाहते हैं, उनके लिए ये नाट्य प्रदर्शन मानसिक तुष्टि का कारण बनते हैं। सिर्फ नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर ही नहीं, अपितु माजुली तथा पूरे असम में ये मुखौटे वहाँ के लोकनुष्ठानों और उत्सवों में भी प्रयुक्त होते हैं। शंकरदेव के समय से ही नववैष्णव आंदोलन के सांस्कृतिक संरक्षण में इस कला का विकास हुआ।

मुखौटा बनाने के लिए मुख्य रूप से बांस, बेंत, कपड़े और मिट्टी आदि का उपयोग किया जाता है। पहले मुखौटे लकड़ी, मिट्टी जैसी विभिन्न सामग्रियों से बने होते थे। बाद में इन मुखौटों को बनाने के लिए बांस का इस्तेमाल किया जाने लगा। बांस से बने मुखौटे स्वाभाविक रूप से काफी हल्के हैं। बांस के टुकड़े 4-5 दिनों के लिए पानी के नीचे रखे जाते हैं। पानी में बाँस के टुकड़ों को भिगोने से कीट के हमले को रोका जाता है और बाँस की नलियों को अधिक लचीलापन मिलता है। नियमित अंतराल पर बेंत की पट्टियों के साथ बांस की पट्टियों को बांधा जाता है। इस प्रकार ये मुखौटे भाओना (नृत्य नाटिका) के

प्रदर्शन में प्रयुक्त होने लगे। प्राकृतिक रंगों का उपयोग पहले मुखौटों के सौंदर्यीकरण के लिए किया जाता था, लेकिन अब बाजार से कृत्रिम रंगों का उपयोग भी किया जाता है। बाल और मूंछें जूट और पानी की जलकुंभी से बनाई जाती हैं। बेहद सावधानीपूर्वक इन मुखौटों का निर्माण किया जाता है। मुखौटे तीन प्रकार के होते हैं: मुख (mukha)-ये केवल चेहरे के रूप में प्रयोग में आते हैं, लोतोकई मुख (lotokai mukha)-इस प्रकार के मुखौटे, आँखों और होंठों को हिलाने के लिए प्रयोग में आते हैं, बोर अथवा चो मुख (Bor or cho mukha)-ये आकार में बड़े होते हैं और लगभग पूरे शरीर को ढंकते हैं। माजुली के मुखौटों के प्रकार के विषय में-"Rifur zaman कहते हैं There are three types of masks at majuli- These are : mukh mukha,cho mukha, and lotokai mukha- Mukh mukha is worn over the face- Cho mukha is very big in size and covers almost the whole body of a person- Lotokai mukha is akin to cho mukha except its small size. "[5]

मुखौटों के निर्माण में 10 से 15 दिन लग जाते हैं। मुखौटे के ढांचे को ढीले-ढाले बाँस और बेंत की पट्टियों के साथ बनाया जाता है, जो चेहरे के आकार में एक साथ जोड़े जाते हैं और फिर चिपचिपी गीली मिट्टी में सूती कपड़े को डुबाकर इसको चिपकाया जाता है, जिसके बाद इसे धूप में सुखाया जाता है। मुखौटा जब आधा सूख जाता है तो मिट्टी और गाय के गोबर के मिश्रण से आँखों और अन्य अंगों को आकार दिया जाता है। कच्चे बांस के टुकड़ों से बने होते हैं। पेड़ों की छाल या जूट का उपयोग बालों के लिए किया जाता है। पूरी तरह सूख जाने से पहले ही बांस के एक तीखे टुकड़े को लेकर मुखौटे की सतह को चिकना करने के लिए घिसा जाता है, जिसके बाद मुखौटा अपने अंतिम रूप में पहुँचता है जहाँ उसे विभिन्न रंगों से सजाया जाता है।

सामागुरी सत्र के प्रसिद्ध मुखौटा-कलाकार डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी पिछले कई वर्षों से इस कला का प्रशिक्षण सत्र में शिष्यों और देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को दे रहे हैं। उनका मानना है कि श्रीमंत शंकरदेव ने अपने नाटकों को मंचित करने के दौरान मुखौटों की आवश्यकता को महसूस किया जिसकी वजह से उन्होंने मुखौटा निर्माण की कला का प्रारंभ किया। यह कला परंपरा 500 वर्ष से भी पुरानी है जिसका निर्वहन आज भी होता चला आ रहा है। वर्तमान में रास-उत्सव को माजुली में लगभग 55 स्थानों पर धूम-धाम और उल्लास के साथ मनाया जाता है और इस दौरान मुखौटों का बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। पिछले 35 वर्षों से हेमचंद्र गोस्वामीजी बड़ी संख्या में छात्रों को यह प्रशिक्षण देते आ रहे कि मंच पर इस्तेमाल होने वाले इन पारंपरिक मुखौटों को कैसे बनाया जाता है? हेमचंद्र गोस्वामी ने बाँस के बोलने वाले मुखौटों का भी निर्माण किया है जो अभिनेताओं को संवाद करने में सहायता पहुँचाते हैं। भारत, फ्रांस, जर्मनी और इजराइल आदि देशों के कई विद्यार्थी यह कला सीखने यहाँ आते हैं। सत्र में मुखौटों को बनाने की कला का प्रशिक्षण बिना किसी पारिश्रमिक के दिया जाता है। इस विषय में-"Rifur zaman कहते हैं In the natun chamaguri village, where the study satra is situated, most of the person practiced mask making as a primary occupation3A mask maker is respected by the people by his ability-till the recent past ,¡ mask maker did not receive any remuneration for his creation for honour and prestige. "[6] सत्र द्वारा निःशुल्क रूप से मुखौटों के निर्माण की शिक्षा दी जाती है, हेमचन्द्र गोस्वामी जी का कहना है कि आने वाली पीढ़ियों के लिए यह कला संरक्षित रहे, यही इसका मूल्य है।

माजुली अपनी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत और मुखौटों की जीवंत संस्कृति के कारण आज भी आकर्षण का केंद्र है। असम में नव-वैष्णववादी संस्कृति का जन्मस्थान यहीं माना गया। माजुली के सत्रों में मुखौटा-कला का इतिहास श्रीमंत शंकरदेव के नव वैष्णव आंदोलन से बहुत गहराई से जुड़ा हुआ है, शंकरदेव ने कला और संस्कृति सहित विभिन्न क्षेत्रों में नवसृजन किए जो आने वाली कई पीढ़ियों के लिए अनुकरणीय बना हुआ है।

माजुली के मुखौटे स्वदेशी कला और संस्कृति के उच्चतम नमूने हैं। ये कला किसी एक दिन की साधना नहीं, बल्कि इसकी पूरी परंपरा रही है, यह गुरु-शिष्य परंपरा से होते हुए आज यहाँ तक पहुँची है। दिनों-दिन इन मुखौटों की मांग विदेशों में बढ़ती जा रही। कलाकारों की माने तो माजुली के मुखौटे ब्रिटिश संग्रहालय में रखे गए हैं जहाँ वे पर्यटकों के आकर्षण के केंद्र बने हुए हैं। इनके द्वारा बनाए गए इन मुखौटों

की बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए कहा जा सकता है कि इसकी प्रसिद्धि के पीछे इन कलासाधकों की मेहनत, लगन और कला के प्रति समर्पण है। माजुली पिछले लगभग 500 वर्षों से असमिया सभ्यता और संस्कृति की राजधानी है। माजुली के सत्रों में आज भी शिष्य, भक्त बिना किसी लोभ और पुरस्कार की अपेक्षा किए नयी-नयी कलाएँ सीख रहे हैं। ये कलाएँ समाज के लिए उपयोगी तो हैं ही साथ ही, माजुली और शेष भारत के संबंधों की अक्षुण्ण परंपरा को हमारे सामने उपस्थित करती हैं। आज आवश्यक है कि हम इन कलाओं के महत्व को समझते हुए इनके संरक्षण के लिए प्रयास और सहयोग करें।

संदर्भ ग्रंथ-

1. शंकरदेव एंड हिज टाइम्स, महेश्वर नेओग,एल.बी.एस. पब्लिकेशन गुवाहाटी, द्वितीय संस्करण (2018), पृ. 1
2. द रिच आइसलैंड ऑफ माजुली, अमूल्य चन्द्र बोरा, डिजिटेक प्रिंटर्स, माजुली, प्रथम संस्करण (2017), पृ. 62
3. वही, पृ. 58
4. वही, पृ. 59
5. द ट्रेडिशन ऑफ मास्क्स इन इंडियन कल्चर, अरिफुर जमान, आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण (2015), पृ. 74
6. वही, पृष्ठ-83

-आदित्य कुमार मिश्रा

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मुखौटा-कला और रंगमंच

सूर्य प्रकाश

'मुखौटा' अर्थात आवरण। मुखौटा-कला देश व दुनिया की प्राचीनतम कलाओं में से एक है। मुखौटा-कला का प्रचलन प्रागैतिहासिक काल के आदिम समाज से पाया जाता है। मुखौटा-कला संस्कृति का भी एक अंग है जिसके माध्यम से उस क्षेत्र की भौगोलिक संपदा का अंदाजा लगाया जा सकता है, क्योंकि मुखौटा निर्माण में स्थानीय वस्तुओं का ही प्रयोग किया जाता है। आदिम समाज में इसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों व शिकार हेतु किया जाता था, परंतु आदिम समाज में शिकार व अध्यात्म केंद्रित मुखौटा अब रंगमंच की शास्त्रीय व लौकिक प्रस्तुति में सर्वत्र मिलता है। "पाषाण युग आरंभिक, अनगढ़ कला क्षीण मुखौटों से लेकर आज के गतिशील हिस्सों वाले मैकेनीकल मुखौटों और प्लास्टिक सर्जरी से बन रहे व्यक्ति के स्थायी नकली चेहरों (मुखौटों) तक मानव जाति के साथ-साथ इन्होंने एक लंबी यात्रा की है। धार्मिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और प्रादेशिक क्षेत्रों में कई मंजिल पार करते हुए अब इन्होंने आधुनिक जीवन एवं समाज में एक सजावटी वस्तु या कलाकृति के रूप में अपनी प्रतिष्ठा बना ली है।"

मुखौटा आज के जीवन में अत्यंत आवश्यक हो गया है। आज जिस तरह के समाज में मनुष्य जीवनयापन कर रहा है वहाँ मुखौटा होना अनिवार्य हो गया है। वर्तमान मनुष्य के बारे में विष्णुपुराण ने भविष्यवाणी कर दी थी- 'कपट-धारणमेव महत्वहेतु'

यही भाव साम्य हिंदी के कवि धर्मवीर भारती ने भी अपनी कविता अंधायुग की पंक्तियों के माध्यम से प्रस्तुत किया। 'जिनके नकली चेहरे होंगे/केवल उन्हें महत्व मिलेगा'

मुखौटों का प्रयोग प्रारंभ में केवल शिकार व देव-स्तुति हेतु हुआ, परंतु लोकनाट्य एवं लोकनृत्य में इसने विस्तार पाया है। मुखौटों का प्रयोग रंगमंच का अब महत्वपूर्ण अंग बन गया है। रामलीला, रासलीला, जैसे पौराणिक कथानक आधारित नाटकों के साथ-साथ आज आधुनिक नाटकों एवं नृत्य तक में इसकी भूमिका बनी हुई है।

"डायोनिसिया के अधिष्ठाता, मदिरा एवं उल्लास के देवता डायोनिसस की उपासना-पद्धति के अंतर्गत कुछ अनुष्ठान ऐसे भी थे जिन्हें उपासक मुखौटे पहनकर संपन्न करते थे। यह 'स्व' के विलयन एवं अनुष्ठान रहस्यात्मकता के प्रतीक थे और इस अर्थ में नाटक की प्रकृति के अनुकूल।"

मुखौटा-कला ने एक लंबी यात्रा की है जिससे वर्तमान समय में इसका उपयोग कई ढंग से किया जाता है।

"मुखौटा का प्राचीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए आत्म सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा। इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, युद्ध के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए लगाये जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हेलमेट) का प्रयोग तो आज खूब किया जाता है"

मुखौटा का शाब्दिक अर्थ है जो मुख को ओट में ले जाय यानी छिपा ले। उड़िया में 'छउ' शब्द मुखौटे के लिए प्रयोग किया जाता है। शशीधर आचार्य बताते हैं कि 'छ' का अर्थ छाना और 'उ' का अर्थ है-किसी अंग को छा लेना। मुखौटा वही होता है जो मुख पर छा जाए। अंग्रेजी में मुखौटे के लिए 'मास्क' उपयोग में लिया जाता है। ऑक्सफोर्ड डिक्सनरी के अनुसार जिसका अर्थ है-जो चेहरे को ढक ले, रूप बदलने के प्रयोग में आए। अंग्रेजी के शब्द मास्क की उत्पत्ति का संदर्भ फ्रेंच के मास्क्यू, इतालवी के मास्करा, लैटिन के मस्क से जो अरबी के मसखरा से प्रभावित है। मसखरा जो तरह

तरह के रूप बदल लेता है, लोगों को हँसाता है।

मुखौटा सामान्य अर्थों में एक आवरण मात्र है जिसके पीछे मनुष्य का प्राकृत रूप छुपा होता है। अपने प्राकृत रूप को छुपाकर दूसरे के रूप को धारण करना तथा अपनी निजी सिद्धि के लिए मुखौटे का प्रयोग होता ही रहा है।

"मुखौटा मनुष्य की कल्पनाशीलता और सृजनात्मकता का सुंदर उदाहरण है। मुखौटा मनुष्य को वह आवश्यक दूरी और छिपाव देता है। जिसके बिना किसी विशेष बात को कहना असंभव होता है।"

मुखौटे के माध्यम से उस सत्य से रूबरू कराया जाता है जो सामान्यत: नहीं हो सकता, किंतु मुखौटा केवल झूठ को नहीं प्रदर्शित करता, बल्कि नाटक के मंच पर मुखौटा पहनकर अभिनेता दर्शकों को सत्य के करीब ले जाता है।

अज्ञेय ने मुखौटे पर लिखा है कि "असल जीवन में यह फरेब है और नाटक में सच्चाई।"

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो मुखौटा-कला की शुरूआत ग्रीक से मानी जाती है। सर्वप्रथम इसके इस्तेमाल के साक्ष्य वहीं से मिलते हैं। विश्व के लगभग समस्त देशों में मुखौटा प्रचलन का प्रमाण पाया जाता है-

"जिसमें अफ्रीका के आदिम मुखौटे विशाल आकार के होते हैं पितरों के प्रतीक में इनकी पूजा होती है। मिस्र के ममी मुखौटे विश्व भर में प्रसिद्ध हैं यहाँ के भित्ति चित्रों में भी देवताओं के मुखौटों का अंकन मिलता है।"

ठीक इसी प्रकार एशिया के भी विभिन्न देशों में मुखौटा-कला के प्रचलन का प्रमाण मिलता है जहाँ विभिन्न देशों में मुखौटों के लिए विभिन्न संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है। मुखौटे के लिए- "एशिया की विभिन्न पारंपरिक कलाओं में मुखौटे का इस्तेमाल होता है, जापानी नोह नाटकों में मुखौटों का उपयोग होता है, जावा, थाईलैंड, श्रीलंका, इंडोनेशिया आदि एशियाई देशों में मुखौटों की विभिन्न शैलियाँ मिलती हैं। नाटक संबंधी आदि ग्रंथ में भरत के नाट्यशास्त्र में भी उल्लेख है कि पशुओं के मुख वाले मंच पर सिंह आदि किसी जानवर की योजना हो तो मिट्टी, लकड़ी, राख से लाख या चमड़े से बने मुखौटे का प्रयोग करना चाहिए। भरत केवल मुखौटा का प्रयोग और बनाने का उल्लेख नहीं करते हैं बल्कि कब कैसे उपयोग करना चाहिए, यह भी बताते हैं।"

भारतीय परिप्रेक्ष्य में ही मुखौटे के प्रचलन में वैविध्य पाया जाता है। यहाँ मुखौटे कई तरह से उपयोग किये जाते हैं विभिन्न क्षेत्रों में होने वाले नाटक, लोकनाट्य, लोकनृत्य आदि- "ओड़िशा के प्रहलाद नाटक, भागवत मेला, महाराष्ट्र में दशावतार, राजस्थान के गवली, गंभीरा, बिहार के बिदापत नाच, असम के अंकिया, नाट, तमिलनाडु के तेरेकुत्तु, ओड़िशा, बंगाल और झारखंड के छऊ, रामनगर की रामलीला में भी मुखौटों का प्रयोग होता है।"

इसके अतिरिक्त विश्व भर में अपनी मुखौटा-कला के लिए जाना जाने वाला असम का माजुली क्षेत्र। असम के सांस्कृतिक उत्थान के एक मात्र हेतु श्रीमंत शंकरदेव हैं। शंकरदेव जी ने एकशरणिया नाम धर्म की स्थापना की, जिसमें सभी भेदभाव को मिटाकर सभी मनुष्य में एक्य भाव की प्रतिष्ठा की।

"माजुली, वहाँ की सत्र-संस्कृति, अध्यात्मिकता, मुखौटा-कला सभी का संदर्भ शंकरदेव से जुड़ा हुआ है। शंकरदेव असमिया साहित्य के पुरोधाओं में से हैं। उन्होंने मुरझाती हुई असमिया जाति, समाज और संस्कृति में नवीन जीवन का संचार किया। असमिया साहित्यिक-सांस्कृतिक इतिहास में उनका स्थान महत्वपूर्ण है। शंकरदेव ने अपने समय में हो रहे धार्मिक और सामाजिक पतन को देखा और उसका पुरजोर विरोध किया। धर्म के नाम पर हो रहे शोषण, अंधविश्वास, नरबलि जैसी कुरूतियों से उन्हें घृणा थी। अत: भागवत धर्म नये सिरे से जनता के सामने रखा तथा 'एकशरणिया भागवत धर्म' की प्रतिष्ठा की।"

असम में मुखौटा-कला की शुरूआत भी श्रीमंत शंकरदेव जी के कर कमलों से हुई।

"एक विशिष्ट कला के रूप में मुखौटों का सर्वप्रथम प्रयोग शंकरदेव ने ही किया। शंकरदेव की प्रथम नाटकीय रचना के रूप में चर्चित 'चिह्नयात्रा' भउना में ही पहले-पहल मुखौटों का उपयोग किया गया था। भउना का सृजन सर्वप्रथम शंकरदेव ने ही किया। भउना नाट्य का ही एक रूप है।"

पूर्वोत्तर में श्रीमंत शंकरदेव जी ने जिस मुखौटा-कला का सूत्रपात किया, उसके प्रसार को माजुली के कमलाबाड़ी सत्रों के संतों ने आगे बढ़ाया।

"शंकरदेव के बाद माधवदेव के द्वारा भी भाओना में मुखौटों का इस्तेमाल करने की बात चरित ग्रंथ में उल्लिखित है। माधवदेव के बाद नारायणदास, ठाकुर आता, बरविष्णु आता के द्वारा भी मुखौटों के निर्माण का

उल्लेख है।"

रंगमंच में भी मुखौटों का प्रयोग सबसे पहले श्रीमंत शंकरदेव जी द्वारा ही हुआ उन्होंने अंकिया, भाओना में इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया जो आज तक प्रचलन में है।

"बांस-काठ के जरिये मुखौटे का निर्माण करके मंच पर व्यवहार करके दिखाने वाले पहले महान शिल्पकार हैं श्री शंकरदेव। उनसे पहले विश्व के किसी भी रंगमंच पर मुखौटे पर मुखौटे का इस्तेमाल करके नाटक प्रदर्शित करने का दृष्टांत देखने को नहीं मिलता है।"

आज यह क्षेत्र अपनी मुखौटा-कला के लिए विश्व भर में जाना जाता है। यहाँ अंकिया व भावना (भाओना) नाट होता है।

"सांस्कृतिक महत्व की मनमोहक माजुली की काया दिन-दिन छीज रही है। यहाँ सत्रीय, भाओना (भावना), रास आदि नृत्यों में सत्रीय नृत्य को अखिल भारतीय मान्यता मिली हुई है। भाओना नृत्य में पौराणिक चरित्रों के लिए पहने जाने वाले मुखौटे के चलते यहाँ का मुख (मुखौटा) लोक-शिल्प आज भी जीवित है। इन मुखौटों को बनाने में बेंत-बांस, कागज-कपड़ा, कुम्हार माटी, रंग आदि का प्रयोग होता है। कुछ मुखौटे तो अर्ध मानवाकार होते हैं जिनमें हाथ भी बने होते हैं। नरसिंह के मुखौटे में जहाँ चार हाथ होते हैं वहीं बाणासुर के मुखौटे के बीस हाथ। इसके अलावा हस्तलिखित-ग्रंथ-कला को भी जीवित रखा गया है। इनके पृष्ठों पर ग्रंथ के कथानुसार विभिन्न रंगों में चित्र किये जाते हैं।"

भारतीय मुखौटा-कला में मुखौटे के लिए 'छउ' शब्द का प्रचलन बंगाल, उड़ीसा एवं झारखंड में मिलता है। भारतीय मुखौटा-कला में छउ भी लोकप्रिय है इसमें 'पुरूलिया छऊ' सबसे अत्यधिक लोकप्रिय है-

"पूर्वी भारत में विशेषकर बंगाल, बिहार और उड़ीसा के राज्यों में ऐसी एक दर्जन नृत्य शैलियाँ हैं, जिन्हें छउ कहा जाता है। अत: 'छउ' एक व्यापक अर्थ देने वाला नाम है। छउ नृत्यों का आरंभ क्षेत्र-पश्चिम बंगाल का दक्षिण-पश्चिम क्षेत्र, बिहार का दक्षिण क्षेत्र, उड़ीसा के उत्तर तथा पश्चिम क्षेत्र से युक्त निकटस्थ क्षेत्र हैं। छउ नृत्य की इन विविध शैलियों को प्रतिनिधिक माना जाता है : पुरूलिया, सिरइकेला और मयूरभंज। पुरूलिया, पश्चिम बंगाल में है तो मयूरभंज उड़ीसा में है और सिरइकेला हालाँकि अब बिहार में है, पर सभी छउ नर्तक उड़िया भाषी हैं।" यहाँ छउ शैलियाँ नृत्य व नाट्य के माध्यम से प्रस्तुत होती हैं। कहीं किसी में नाटकीयता अधिक है तो किसी की साज- सज्जा अनूठी है।

"इन छउ शैलियों में प्रमुख अंतर-मुखौटों के प्रयोग में है। छउ की पुरूलिया और सिरइकेला शैलियों में मुखौटे का प्रयोग होता है, जबकि मयूरभंज शैली में मुखौटों का प्रयोग नहीं होता। सिरइकेला मुखौटे अधिक परिष्कृत होते हैं, पर उन्नत शीर्ष सज्जा (टोप) सहित पुरूलिया मुखौटे अधिक नाटकीय होते हैं। पश्चिम बंगाल के परंपरागत जात्रा थियेटर (नाट्यशास्त्र) से प्रभावित, पुरूलिया छउ नृत्य एक प्रभावशाली नाट्याभिनयता और मुखौटों के प्रयोग के साथ नृत्य रूप में प्रस्तुत पौराणिक प्रसंगों को दुलर्भ प्रकार की सुस्पष्टयता प्रदान करता है।"

आज मुखौटों की उपयोगिता विश्वभर में है। मुखौटा निर्माण में बहुत से लोगों का एक मात्र आजीविका का साधन भी मुखौटा निर्माण कला है। भारतीय मुखौटों की माँग दशहरे व अनुष्ठानों के समय अधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार पुरूलिया छउ क्षेत्र में भी मुखौटों की मांग बढ़ जाती है।

"मुखौटा निर्माता मूलत: मृत्तिका शिल्पकार होता है जो हिंदू देवकुल के देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ भी बनाते हैं। सामान्यत: ये फरवरी से मई तक मुखौटे बनाते हैं। वर्षा के दिनों में ये बढ़ईगिरी का काम करते हैं। सितंबर से ये लोग प्रतिमाएँ बनाने में व्यस्त हो जाते हैं, क्योंकि दशहरे के दौरान इन आकृतियों की भी बहुत मांग बढ़ जाती है।"

मुखौटे का प्रयोग हमें नृत्य में भी देखने को मिलता है, किंतु नृत्य के मुखौटे रंगमंच के मुखौटे से भिन्न होते हैं। छऊ, छाम, याक, लामा आदि ऐसे नृत्य हैं जिसमें विभिन्न प्रकार के मुखौटे प्रयोग में लाए जाते हैं। इन नृत्यों में भी मुखौटा-कला का सुंदर प्रयोग किया जाता है।

मुखौटा निर्माण भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के होने से इसकी प्रविधियाँ भी भिन्न हैं। भारतीय संस्कृति की विविधता भारत को अन्य देशों की तुलना में विलक्षण बनाती है। आदिम समाज में जानवरों के अवशेष सींग, पक्षियों के पंख, लकड़ी और किसी किसी जनजातीय समुदाय में हड्डियों के भी मुखौटे प्राप्त होते हैं। छउ में नदी किनारे की खास तरह की मिट्टी का उपयोग करते हैं। सामान्यत: मुखौटा निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामाग्री-मिट्टी, लकड़ी, धातु, पत्थर, चूड़ी, हाथी-दांत

सींग, पंख, प्लास्टिक उन, चालेल, लौकी, मोम, कागज की लुगदी इत्यादि। आज आधुनिक सभ्यता में विभिन्न अनुसंधान के कारण प्लास्टिक अविष्कार के बाद प्लास्टिक से भी कई तरह के मुखौटे बनाए जाते हैं।

रंगमंच संयुक्त रूप से दृश्य व श्रव्य संचार का माध्यम है जिससे समाज का हर वर्ग लाभ लेता है। यह नाटक, लोकनाट्य, नृत्य व अन्य रूपों में सामने आता है। रंगमंच में संस्कृति, सभ्यता के विविध आयाम को समग्रता में अपने आप में समाहित किए हुए है।

"रंगमंच में अनेक प्रदर्शनकारी कलाएँ समाहित हैं, जो आवश्यकतानुसार इसमें प्रयुक्त होती रहती हैं। रंगमंच अपने आप में एक संपूर्ण अनुभव है जो अपनी आरंभिक संकल्पनाओं में यथार्थवादी से शैलीबद्ध पद्धतियों को लेकर चला है। इसमें अभिनयपूर्ण मुख-मुद्राएँ, शारीरिक गतियों के साथ-साथ नृत्य और संगीत भी अनिवार्य रूप से जुड़े रहे हैं। मुखौटा, कठपुतली, संगीत, नृत्य, मूकाभिनय आदि रंगमंच के धरातल पर एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं।" सामान्य शब्दों में समझा जाए तो यह पृथ्वीलोक रंगमंच है। इसमें रहने वाले प्राणी जो कुछ भी अपने जीवनयापन में करते हैं, वह अभिनय है।

रंगमंच से तात्पर्य है रंगभूमि, यवनिका, नेपथ्य, दृश्यपट के विविध परदे, रंगस्थान, प्रदर्शन, निर्देशक, संयोजक, नेता, नायिका तथा अन्य पात्रों से है।

"नाटक की कथावस्तु का प्रदर्शन या अभिनय जिस स्थल पर होता है, उसे रंगमंच कहते हैं।" रंगमंच शब्द का आविर्भाव रंग' और 'मंच' दो शब्दों के संयोग से हुआ है। 'रंग' शब्द का अर्थ है- 'नाच' और नृत्य। 'मंच' का शब्दार्थ है 'ऊंचा बना हुआ मंडप'। इस प्रकार 'रंगमंच' का अर्थ हुआ-वह उच्च स्थल जहाँ पर रंगकर्मी नाच, नृत्य, नाटक आदि अभिनय कलाओं को प्रदर्शित करते हैं। यही भाव साम्य डॉ. उपेंद्रनारायण सिंह ने भी किया है- "रंगमंच की कोई निश्चित परिभाषा नहीं मिलती है। क्योंकि इसमें वैविध्य अत्यधिक है। फिर भी रंगमंच को वह स्थान है जहाँ रंगकर्मी अपना अभिनय करता है और श्रोता उन्हें देखते हैं।"

रंगमंच की व्यवस्था का प. सीताराम चतुर्वेदी जी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच' में बखूबी ढंग से विवरणात्मक रूप से उल्लेख किया है।

"रंगमंच एक स्थल न होकर एक विद्या, एक कला है। इसमें नाट्य प्रस्तुतीकरण, दर्शक और रंग भवन आदि तत्व सम्मिलित हैं। रंगभवन में मंच और रंगशाला उभयनिष्ठ है। प्रस्तुतीकरण के दो तत्व हैं-निर्देशन और व्यवस्था। अभिनय तत्व आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक चार उपतत्व में विभक्त हैं। व्यवस्था के अंतर्गत रिहर्सल, प्रबंध और टिकट से लेकर समापन तक की व्यवस्था है। रंगशिल्प में मंच-सज्जा, प्रकाश, वस्त्र-विन्यास, रूप-विन्यास, संगीत तथा ध्वनि-विन्यास का प्रबन्ध है। अत: रंगमंच एक विद्या है।"

नाटक और रंगमंच का अन्योन्य संबंध है। हिंदी साहित्य की परंपरा के अंतर्गत नाटक विद्या का स्थान अद्वितीय है। परंतु रंगमंच के अभाव में नाटक अस्तित्वहीन-सा जान पड़ता है। रंगमंच नाटक की आत्मा है, क्योंकि नाटक तभी प्राणवान हो उठेगा, जब-जब वह मंच पर प्रस्तुत किया जायगा।

साहित्य की अन्य विद्याओं से नाटक विलक्षण पहचान रखता है। अन्य विद्याओं की तुलना में नाटक और पाठक या दर्शक का निजी संबंध रहता है। नाटक एक सृजनात्मक कला है और सृजनात्मक कार्य सार्थक होता है रंगमंच पर।

रंगमंच का नाटक से संबंध है। नाटक रंगमंच पर ही खेला जाता है। लोकनाट्य, नृत्य आदि भी रंगमंच के बिना अपूर्ण ही लगते हैं। नाटक व रंगमंच दोनों ही बहुत ही प्राचीन विद्या है। भारत व ग्रीक देशों में इनका प्रचलन अति प्राचीन समय से रहा है।

"ग्रीक रंगमंच विश्व का सबसे पुराना रंगमंच माना जाता है। ऐसा माना गया है कि दुनिया में सबसे पहले रंगमंच की शुरूआत ग्रीक में हुई। ग्रीक रंगमंच मुख्यत: दो तरह के नाटकों के लिए जाना जाता है-ट्रेजडी एंड कॉमेडी।"

इसी प्रकार रंगमंच में उपयोग किये जाने वाले मुखौटे भी अति प्राचीन हैं भारत व ग्रीक दोनों ही स्थानों पर मुखौटा-कला के साक्ष्य मिलते हैं। हड़प्पा सभ्यता में भी मुखौटा-कला के प्रमाण मिलते हैं।

"पाँचवीं शताब्दी ई.पू. के नाटक में मुखौटे मंचन का अभिन्न अंग थे और एक स्वीकृत नाट्य परंपरा। नाटक में भाग लेने वाले सभी अभिनेता एवं कोरस के समस्त सदस्य मुखौटे पहनते थे। स्त्रियाँ नाटकों में भाग नहीं लेती थीं। अतएव स्त्री की भूमिका करने वाले पुरुष पात्र के लिए वैसे भी मुखौटा अनिवार्य था"

मुखौटा का विशेष उपयोग रंगमंच पर ही होता है।

अधिक पात्रों को प्रस्तुत करने के लिए मुखौटों का उपयोग कर एक ही व्यक्ति अलग-अलग पात्र बनकर रंगमंच पर प्रस्तुत होता है।

"एक नाटक में बोलने वाले पात्र केवल तीन होते थे। अतएव मुखौटों की सहायता से एक पात्र अनेक भूमिकाएँ कर सकता था और एक ही भूमिका को आवश्यकतानुसार एक से अधिक पात्रों को भी दिया जा सकता है।"

मुखौटे मुख्यत: व्यवहार को प्रदर्शित करने वाले होते हैं। सामान्य जीवन में एक आदमी कई प्रकार का व्यवहार करता है। वह जो होता है वह दिखता नहीं और जो दिखता है वह होता नहीं या यह कहें कि वह भीतर से कुछ और बाहर से कुछ और है।

"मुखौटे व्यवहार के मुखौटे हैं। रंगमंच से जुड़कर मुखौटे 'कुछ और' हो जाते हैं। नाट्य व्यापार के अंतर्गत ये किन्हीं विशिष्ट स्थितियों मनस्थितियों और परिस्थितियों को स्पष्ट एवं संप्रेषित करने लगते हैं। मुखौटा वह रंग युक्ति है जो पहनने वाले के चेहरे को ढककर उसे नई भंगिमा और पहचान देती है।"

मुखौटे का प्रयोग रंगमंच में बहुत ही आवश्यक भूमिका निभाता है, जब भाषा और चेहरे से भी वह प्रदर्शित नहीं हो पाता जिसे वह नाटक में दिखाना चाहते हैं; तब मुखौटे के माध्यम से सरलता से संभव हो पाता है।

"जब भी किसी चेहरे पर मुखौटा पहना जाता है तो वह चेहरा सामान्य नहीं रह जाता। रंगमंच पर मुखौटे के प्रयोग की उपयोगिता यह है कि मानव प्रकृति में बहुत कुछ ऐसा है जिसे कहने या दिखने में भाषा और चेहरे के भाव 'चूक' जाते हैं ऐसी स्थिति में मुखौटे का सृजनात्मक इस्तेमाल वह नाटकीय अर्थ रचता है जिसके कथ्य का संप्रेषण अन्य प्रकार के साधनों से नहीं हो पाता है, या जिसके बिना बात अधूरी ही रह जाती है।"

नाटक या रंगमंच में देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों को प्रदर्शित करने के लिए मुखौटा विशेष भूमिका का निर्वहन करता है। उदाहरण मोहन राकेश के सुप्रसिद्ध नाटक में हिरण शावक का मुखौटा तैयार किया गया, हिरण शावक को दिखाने के लिए।

निष्कर्ष :- मुखौटा-कला अति प्राचीन कला है। जिसका प्रारंभ में शिकार व देवस्तुति के लिए प्रयोग किया गया, परंतु आज आधुनिक युग में रंगमंच व नृत्य में मुखौटों के प्रयोग की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ी है। हिंदी रंगमंच में अब यह प्रचलन गतिशील हो गया है। उदाहरण-गिरीश कर्नाड के 'अग्नि और बरखा' नाटक में वृत्रासुर का मुखौटा अरवसु को अपने काबू में करके उसे सब कुछ तहस-नहस करने पर बाध्य कर देता है। तथा धर्मवीर भारती के 'अंधायुग' में काले कपड़े पहने और मुखौटा लगाये श्वेतवसनधारी नर्तक शिशु के आक्रमण तथा उलूक वधोल्लास एवं तांडव को देख-सुनकर ही अश्वत्थामा को शिविर में सोये निहत्थे और अचेत पांडवों को मार डालने का विचार आता है। आधुनिक नाटकों में इस तरह के उदाहरण से मुखौटों की उपयोगिता को सहज ही समझा जा सकता है।

सहायक ग्रंथ सूची

1. चतुर्वेदी, पं. सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964
2. तनेजा, जयदेव, आधुनिक भारतीय रंगलोक, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2006
3. सांगानेरिया, सांवरमल, ब्रह्मपुत्र के किनारे किनारे, भारतीय ज्ञानपीठ, 2006
4. सिंह, डॉ. योगेंद्र प्रताप, भारतीय भाषाओं में रामकथा : असमिया भाषा-2,
5. सिंह, डॉ. योगेंद्र प्रताप, भारतीय भाषाओं में रामकथा : असमिया भाषा-1, वाणी प्रकाशन, 2016
6. महतो, भुवनेश्वर, हिंदी एकांकी का रंगमंचीय अनुशीलन, अन्नपूर्णा प्रकाशन।
7. नसीम, कमल, ग्रीक नाट्य कला कोश, राजकमल प्रकाशन, 2009
8. भ्रमर, रवींद्र, हिंदी लोक नाट्य (पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ), पृ. 9
9. मोहन राकेश, आधे अधूरे (नाटक), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016
10. मोहन राकेश, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एंड संस, 1997
11. कर्नाड, गिरीश, अग्नि और बरखा (नाटक), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2019
12. भारती, धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, 2016

पत्रिकाएँ

1. प्रवाह पत्रिका, दिसंबर 2018-फरवरी 2018, अंक-35
2. अभिनव इमरोज, सितंबर-2019, अंक-9

सूर्य प्रकाश

शोधार्थी, हिंदी विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

मुखौटा-कला के विविध आयाम : एक अध्ययन

मीनाक्षी

मुखौटा शब्द का सामान्य अर्थ है- जो मुख को ढकने का कार्य करता है तथा इसका विशिष्ट अर्थ है- जो व्यक्तित्व को छिपाने का कार्य करे, वह मुखौटा कहलाता है। व्यक्तित्व को छिपाने के लिए मुखौटे के साथ-साथ धारण की गई पोशाक एवं व्यवहार आदि भी मुखौटे के अनुरूप ही होना चाहिए। मुखौटा एक ऐसा आवरण है जिसका प्रयोग करके हम अपने वास्तविक रूप को छिपा सकते हैं तथा एक नवीन रूप धारण कर सकते हैं। ये मुखौटे भावों के मुखौटे हैं। जितने भाव उतने ही मुखौटे। मुखौटे की हमारे जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका है। प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में बिना मुखौटे के नहीं रह सकता। निदा फाजली का एक शेर है-

"हर आदमी में होते हैं दस बीस आदमी
जिसको भी देखना हो कई बार देखना"

ये 'दस बीस आदमी' ही मुखौटे का पर्याय हैं। कोई भी व्यक्ति अपने अनुसार जब चाहे जितने भी मुखौटे लगाकर अपने रूप को बदल सकता है।

मुखौटा लगाने के भिन्न-भिन्न कारण हो सकते हैं। कुछ लोग मुखौटे का प्रयोग इसलिए करते हैं ताकि वे अपने सुख-दुख, अमीरी-गरीबी, दोस्ती-दुश्मनी आदि भावों को प्रदर्शित नहीं करना चाहते, जिससे वह अपनी वास्तविक स्थिति को मुखौटे के माध्यम से छिपा लेते हैं। किंतु मुखौटे का प्रयोग केवल वास्तविकता को छिपाने के लिए नहीं किया जाता, अपितु मनोरंजन, प्रदर्शन एवं वास्तविक स्थिति को दर्शाने के लिए भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त मुखौटे विभिन्न माध्यमों द्वारा मानवीय भावों को यथार्थ रूप में भी समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

अज्ञेय के अनुसार :- "मुखौटे केवल धोखा देने के लिए नहीं बल्कि सच्चाई को प्रस्तुत करने के लिए भी लगाए जाते हैं।"

जीवन के ये मुखौटे काल्पनिक हैं और रंगमंच में प्रयोग किए जाने वाले मुखौटे से भिन्न भी। अज्ञेय लिखते है कि- "साधारण जीवन में मुखौटा फरेब है, लेकिन नाटक में वही मुखौटा हमें यथार्थ में लौटा लाने में सहायक हो सकता है।"

मुखौटा दो प्रकार का होता है- काल्पनिक मुखौटा एवं कलाकारों द्वारा बनाया गया मुखौटा। दोनों मुखौटों का अंतर स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि- "सामान्यतः व्यक्ति के अंदर भी एक अदृश्य मुखौटा होता है। एक तो वह जो वह दिखता है और एक वह जो वास्तव में होता है। सामान्यतः व्यक्ति अपनी मुखाभिव्यक्ति को छुपाने के लिये मुखौटे का प्रयोग करते हैं। जबकि कलाकार अपनी अनुभूतियों की बाह्य अभिव्यक्ति हेतु विभिन्न रूपाकारों में मुखौटे का निर्माण करता है। विभिन्न माध्यमों में निर्मित मुखौटों से व्यक्ति उसके वातावरण और यथार्थ की प्रस्तुति सशक्त तरीकों से कर सकता है।"

'मुखौटा' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भरतमुनि द्वारा रचित नाटक के सबसे प्राचीन ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में हुआ। यह कहा जा सकता है कि नाटक और मुखौटा एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और दोनों ही एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं। नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के नाटकों की चर्चा की गई है-वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक। मुखौटे का संबंध आहार्य से है।

मुखौटे के अवशेष प्राचीनकाल से ही मिलते हैं। कहा जाता है कि मुखौटे का प्रथम प्रयोग धातु मूलक रहा है जिसके अंतर्गत तंत्र-मंत्र और जादुई प्रभाव की केंद्रीयता है। आदिवासी लोग जंगलों में जानवरों का शिकार करने के लिए आत्मरक्षा हेतु मुखौटे पहनते थे। "मुखौटों का प्राचीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए आत्म-सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा।"

मुखौटे का प्रयोग भारत में विभिन्न स्थानों पर

भिन्न-भिन्न रूपों में देखा जा सकता है, जैसे-

"ओड़िशा के प्रह्लाद नाटक, भागवत मेल, महाराष्ट्र में दशावतार, राजस्थान में गवरी, गंबीरा, बिहार के विदापद नाच, असम के अंकिया नाट, तमिलनाडु के तेरेकुत्तू, उड़ीसा, बंगाल और झारखंड के छऊ, रामनगर की रामलीला में भी मुखौटों का प्रयोग होता है।"

मुखौटा-कला भारत में ही नहीं अपितु वैश्विक स्तर पर भी बहुत प्रसिद्ध है। भारत के साथ-साथ अफ्रीका, चीन, लंदन, जापान, ग्रीस, इंडोनेशिया आदि देशों में मुखौटे का प्रयोग कई तरह से होता है। जैसे-

"इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, युद्ध के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हैलमैट) का प्रयोग तो आज भी खूब किया जाता है।"

इसके अतिरिक्त मुखौटे का प्रयोग रंगमंच, नृत्य, लोकनाट्य, उत्सवों, और खेतों में किया जाता है।

"मुखौटे लोकजीवन, लोकनृत्य और लोकनाट्य का तो हमेशा से अभिन्न अंग रहे ही हैं। लेकिन शास्त्रीय और आधुनिक नाटकों के साथ भी इनका बहुविध एवं गहरा रिश्ता रहा है। रूपक की बुनियादी शर्त है अभिनेता का रूपांतरण और नाटक तथा मुखौटा दोनों ही इस शर्त को समान रूप से पूरा करते हैं।"

मुखौटे को सामान्यत: तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है -

मानवीय मुखौटे- ये वे मुखौटे होते हैं जो जीवन में किसी सामान्य व्यक्ति से संबंधित होते हैं जैसे- किसान, कुम्हार आदि।

मानवेत्तर मुखौटे- इसके अंतर्गत भिन्न-भिन्न पशु-पक्षियों, जानवरों, पेड़-पौधे आदि के मुखौटे आते हैं। जैसे-शेर, कुत्ता, सियार, लोमड़ी, बकरी, भालू आदि।

आध्यात्मिक मुखौटे- इसके अंतर्गत कई देवी-देवताओं जैसे- हनुमान, गणेश, रावण, कुंभकरण, शूर्पणखा आदि आते हैं।

पश्चिम में मुखौटे के प्रयोग की शुरुआत यूनान में हुई। वहाँ मुखौटे का प्रयोग धार्मिक कर्मकांड के उपलक्ष्य में देवताओं की प्रतिमा को पूजने के लिए किया जाता था। इसमें मुखौटे को धारण करने से पूर्व उसकी पूजा की जाती थी। ईसा की छठी शताब्दी में मुखौटे का प्रयोग यूनानी रंगमंच में भी देखने को मिलता है।

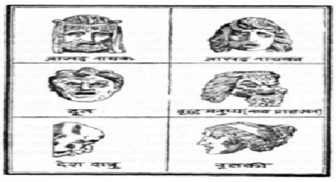

चित्र-1 (पूरा मुख ढंक लेने वाले मुखौटे)

"छठी शताब्दी ईसा पूर्व के यूनानी नाटककार स्पिस ने अपनी त्रासदी नाट्य रचनाओं के लिए पहले पहल रंगमंच पर मुखौटों का इस्तेमाल किया। मध्यकाल में 12वीं से 16वीं शताब्दी के बीच उभरे रहस्य-नाटकों में और 15वीं से 18वीं शताब्दी के बीच इटली से चलकर फ्रांस, जर्मनी और इंग्लैंड तक पहुँचे कमेडिया- देल-आर्ते के हास्य नाटकों में भी मुखौटों का भरपूर उपयोग होता रहा। जापान में 14वीं शताब्दी में लोकप्रिय हुए नोह नाटकों में 125 तरह के (सबके अलग-अलग नाम हैं) मुखौटों का प्रयोग किया जाता है।"

यूनान के प्रसिद्ध नाटककार 'अस्कुलस' है जिन्होंने ऐसे मुखौटों को बनाने की शुरुआत की जो चेहरे के साथ-साथ पूरा मुख भी ढक लेते हैं।

यहाँ हम कुछ विदेशी मुखौटों के बारे में जानेंगे।

❍ **आदिम मुखौटा**- ये मुखौटे अफ्रीका में बनाए जाते हैं। तथा पितरों के प्रतीक के रूप में इनकी पूजा की जाती है।

❍ **शव मुखौटा**- ये मुखौटे यूरोप में बनाए जाते हैं। इनका निर्माण सोने, चांदी, पीतल आदि धातुओं से किया जाता है। दफनाने की प्रक्रिया में इनका इस्तेमाल किया जाता है।

❍ **ममी मुखौटा** -मिस्र में भित्ति चित्रों में देवताओं के मुखौटों का अंकन किया जाता है।

चित्र-2 (विभिन्न देशों के मुखौटे)

भारत में रंगमंच के अंतर्गत मुखौटे का प्रयोग सर्वप्रथम पूर्वोत्तर भारत के संतकवि श्रीमंत शंकरदेव ने

अपने नाटकों में किया। उन्होंने अपने पहले नाटक 'चिह्नयात्रा' भाओना (नाटक का एक रूप) में मुखौटे का प्रयोग किया था।

"बांस-काठ के जरिये मुखौटे का निर्माण करके मंच पर व्यवहार करके दिखाने वाले पहले महान शिल्पकार हैं श्रीमंत शंकरदेव। उनसे पहले विश्व के किसी भी रंगमंच पर मुखौटे का इस्तेमाल करके नाटक प्रदर्शित करने का दृष्टांत देखने को नहीं मिलता है।"

आज के समय में मुखौटा-कला वैश्विक स्तर पर सभ्यता और संस्कृति का एक महत्वपूर्ण तत्व है। इसे बनाने की प्रक्रिया काफी कठिन है। प्रत्येक कार्य के अनुसार मुखौटे भी भिन्न-भिन्न तरह के बनाए जाते हैं। जैसे-रंगमंच, नृत्य, लोक नाट्य आदि में अलग-अलग प्रकार के मुखौटे तैयार किए जाते हैं। इसके लिए स्थानीय सामग्री का ही प्रयोग किया जाता है। आमतौर पर मुखौटे मिट्टी, टैराकोटा, धातु, बांस, लकड़ी, कागज, पत्थर, सूत, हाथी दांत, आदि से तैयार किए जाते हैं।

मुखौटा बनाने के लिए सबसे पहले बांस की पतली-पतली पट्टियों से एक मुखाकार ढांचा बनाया जाता है। फिर उसके ऊपर मिट्टी में सने छोटे-छोटे कपड़ों को उस ढांचे पर लगाया जाता है और धूप या छाया में उसे सूखने के लिए छोड़ दिया जाता है। जब वह पूरी तरह से सुख जाता है तो अंत में उसके ऊपर रंग-बिरंगे रंगों से कलाकारी की जाती है।

जंगलों में जानवरों का शिकार करने के लिए आदिवासी लोग पेड़ों की छाल, घास-फूस, पशु-पक्षियों के पंखों आदि वस्तुओं से अपने लिए मुखौटे तैयार करते हैं।

भारत में कई प्रकार के मुखौटा नृत्य भी होते हैं। कई स्थानों पर तो मुखौटा नृत्य, नृत्य का एक विशिष्ट रूप है। इसके अंतर्गत विभिन्न ऐतिहासिक, सामाजिक एवं पौराणिक लोककथाओं को नृत्य के रूप में लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। बीच-बीच में दर्शकों के

चित्र-3 (बांस की पट्टियों से मुखौटा बनाते हुए)

साथ संवाद भी हो जाता है। इसकी एक अलग वेशभूषा होती है। सभी नृतक पात्रानुसार अपनी वेशभूषा ग्रहण करते हैं और उसी के अनुसार मुखौटा भी ग्रहण करते हैं।

इसकी खास बात यह है कि यह समाज में होने वाली विभिन्न स्थितियों जैसे राजनीति, जनविरोधी नीतियाँ एवं विभिन्न आडंबरों को भी संप्रेषित करते हैं। समाज के प्रत्येक वर्ग के लोग इस नृत्य में एक नृतक के रूप में भाग लेते हैं एवं सब साथ में देखते भी हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे नृत्यों की चर्चा करेंगे जिसमें मुखौटे का प्रयोग होता है। जैसे -

❍ **छऊ नृत्य**- यह पूर्वोत्तर भारत की एक परंपरा

चित्र-4 (पौराणिक लोक कथाओं में मुखौटे का प्रयोग)

है तथा आदिवासियों द्वारा किया जाने वाला प्रसिद्ध नृत्य भी। इसके अंतर्गत रामायण, महाभारत एवं स्थानीय लोककथाओं के विभिन्न प्रसंगों को नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है।

❍ **लामा नृत्य**- यह नृत्य किन्नौर के आदिवासी भिक्षुओं के द्वारा किया जाता है। इसका नृतक शेर के मुखौटे को धारण करता है। यह नृत्य भूत-प्रेत को भगाने एवं प्रकृति के प्रकोपों से बचने के लिए किया जाता है।

❍ **छाम नृत्य**- यह एक आनुष्ठानिक नृत्य है। इसे लामाओं द्वारा पारंपरिक वस्त्रों और मुखौटे को धारण कर त्योहारों के अवसर पर किया जाता है।

❍ **पर्णीजागोर नृत्य** - यह नृत्य गोवा में किया जाने वाला मुखौटा नृत्य है। इसमें लड़की के मुखौटे का प्रयोग होता है। इसमें विभिन्न पशुओं, राक्षसों, देवताओं एवं आलौकिक शक्तियों का प्रदर्शन होता है।

चित्र-5 (अदृश्य शक्तियों को रोकने के लिए मुखौटा नृत्य)

❍ **याक नृत्य**- याक (धन एवं समृद्धि का प्रतीक) नृत्य बौद्ध जनजातियों का प्रसिद्ध नृत्य है। यह नृत्य लोसर महोत्सव के उपलक्ष्य में याक को सम्मानित करने के लिए किया जाता है।

नृत्य के मुखौटे रंगमंच के मुखौटे से कुछ भिन्न होते हैं। इन मुखौटों को दो भागों में विभाजित किया जाता है।

❍ **द्योपत्तर**- ये मुखौटे देव मुखौटे कहलाते हैं। जैसे- ईश्वर, राजा आदि

❍ **खयलारीपत्तर**- ये मुखौटे मनोरंजन की श्रेणी में आते हैं।

नृत्य मुखौटे को बनाने के लिए केमू (शहतूत) या भोजपत्र के पेड़ों की पूजा करके बनाए जाते हैं। ये मुखौटे भिन्न-भिन्न पात्रों के अनुरूप ही बनाए जाते हैं ये मुखौटे विभिन्न गाँव में अट्ठारह प्रकार के होते हैं। जैसे-ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि। तो दूसरे कुछ स्थानों पर नृसिंह, गोपीचंद, राजा आदि। कुछ मुखौटा नृत्य और उनकी विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

❍ **भूटान का मुखौटा नृत्य**- ऐसा माना जाता है कि इस नृत्य को करने से पापों का नाश होता है। सभी बाधाएँ दूर हो जाती है तथा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

❍ **सोंगी मुखौटा नृत्य**- यह नृत्य महाराष्ट्र में चैत मास की पूर्णिमा पर देवी पूजा में किया जाता है। इस नृत्य में असत्य पर सत्य की विजय का संदेश मिलता है। इसमें पारंपरिक व्रत पूजा होती है तथा पूजा के अंत में पशु की बली दी जाती है।

चित्र-6 (चौरियल मुखौटों की कुछ तस्वीरें)

❍ **चौरियल मुखौटा नृत्य**- ये मुखौटे तेलंगाना में स्थित हैदराबाद के पास बनाए जाते हैं। यह स्थान मुखशिल्प की वजह से प्रसिद्ध हैं। ये मुखौटे बड़े मुखौटों की अपेक्षा थोड़े छोटे हैं।

चित्र-7 (चौरियल मुखौटे को बनाने के सात चरण)

आदिवासी लोग मुखौटे के लिए 'मुखटा' शब्द का प्रयोग करते हैं। मुखौटे के द्वारा विश्व में रचनात्मक अभिव्यक्ति प्रकट की गई है। ये लोग मुखौटे का प्रयोग कई प्रकार से करते हैं जैसे-जंगलों में शिकार करने हेतु आत्म सुरक्षा के लिए, धार्मिक अनुष्ठानों के लिए, महामारियों, दुष्टात्माओं और विपदाओं से छुटकारा पाने के लिए, विवाह एवं त्योहारों के अवसर पर, कृषि के लिए, विभिन्न उत्सवों में, विभिन्न संस्कारों में, भूत-प्रेत भगाने के लिए, अपनी परंपराओं को बनाए रखने के लिए, तथा रोजगार आदि के लिए भी मुखौटे महत्वपूर्ण थे। कुछ उत्सव इस प्रकार हैं-

❍ **बारवस देवता की पूजा**- यूनान में बारवस देवता की पूजा के लिए मुखौटे का प्रयोग होता है।

❍ **पदयनी उत्सव**- यह उत्सव युद्ध का उत्सव है। यह देवी भद्रकाली का राक्षसों से युद्ध में विजय प्राप्त होने के अवसर पर मनाया जाता है। इसमें नृतक शिव का वेश धारण करके माँ भद्रकाली के समक्ष कोलम (मुखौटा) पहन कर नृत्य करते हैं एवं थप्पू (गीत) गाते हैं।

❍ **बोहड़ा उत्सव**- यह उत्सव ठाणे और नासिक में तीन दिन के लिए आयोजित किया जाता है। यह उत्सव नागपंचमी, हनुमान जयंती आदि के अवसर पर किसी भी समय मनाया जा सकता है। इसमें भारतीय देवी-देवताओं के बावन प्रकार के मुखौटे लगाए जाते हैं।

❍ **कबायली उत्सव**- इस उत्सव का आयोजन शाशुरगोम्पा (के लांग के ऊपरी टीले पर स्थित) में बौद्ध विरोधी प्रवृत्तियों से बचने के लिए किया जाता है। इसमें बौद्धभिक्षु एकत्र होकर मुखौटा धारण कर नृत्य करते हैं तथा इसे बुराई पर अच्छाई की जीत के रूप में भी माना जाता है।

❍ रम्माण उत्सव– यह उत्सव उत्तराखंड के चमोली जिले में 11 या 13 दिन तक मनाया जाता है। इसमें लोक नाट्य, लोक नृत्य, गायन, देवयात्रा, परंपरागत पूजा, सामूहिक पूजा एवं कई अनुष्ठान होते हैं। इसमें होने वाले कुछ नृत्य इस प्रकार हैं–

1. **बण्या-बण्याणनृत्य**– इस नृत्य के अंतर्गत तिब्बती व्यापारियों द्वारा चोरी व लूटपाट की घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है।

2. **म्योर-मुरेणनृत्य**– इस नृत्य के माध्यम से पहाड़ों पर रहने वाले लोगों की दैनिक समस्याओं जैसे-लकड़ी लाने के समय किसी जंगली जानवर द्वारा आक्रमण की घटना को प्रस्तुत किया जाता है।

3. **माल मल्ल नृत्य**– इसमें स्थानीय लोगों और गोरखाओं के बीच युद्ध को नृत्य के द्वारा प्रस्तुत किया जाता है।

4. **कुरु जोगी नृत्य**– यह एक हास्य नृत्य है जो लोगों के मनोरंजन में सहायक है।

हिंदी रंगमंच में मुखौटे का प्रयोग बाल नाटकों में देखने को मिलता है। जिसमें सूरज, चांद, तारों, पशु-पक्षियों आदि की अभिव्यक्ति के लिए मुखौटे का प्रयोग होता था। इसके अतिरिक्त हम अन्य नाटकों में भी मुखौटे का प्रयोग देख सकते हैं।

गिरीश कर्नाड द्वारा रचित 'अग्नि और बरखा' नाटक के तृतीय अंक में जब नाटक मंडली 'इंद्र विजय' नाटक की तैयारी करती है, तो कर्ता नट अरवसू को वृत्तासुर का मुखौटा और वेशभूषा देने के अंदाज में बोलता है–

"यह लो। ये वृत्तासुर का मुखौटा है अब अपने आपको समर्पित कर दो इस मुखौटे को। समर्पित हो जाओ और इसी में चेतन को भरो। हाँ, इतना ध्यान रहे, ज्यों ही तुम मुखौटे को जीवंत करते हो तो उस पर तुम्हें नियंत्रण भी साधना होगा। नहीं तो मुखौटा ही तुम पर चढ़ बैठेगा।"

तो अरब सुवृत्तासुर के अंदाज में बोलते हुए कहता है–

"वृत्त! वृत्त! अकालों का असुर। नदियों को अपने उदर में निकल कर छुपा लेने वाले दानव मुझे भर। मैं एक कीट हूँ। अब बन जाने दे मुझको सर्प अहि। आ मेरा जबड़ा बड़ा कर कि मैं इंद्र को निगल जाऊँ। मुझे जठराग्नि दे ऐसी कि इंद्र को पचा जाऊँ"

मुखौटे के माध्यम से एक ही व्यक्ति कई प्रकार के मुखौटे का प्रयोग करके भिन्न-भिन्न किरदारों को एक ही समय में स्वयं ही रंगमंच पर प्रस्तुत कर सकता है। 'लव एड लाइफ' नाटक के निर्देशक एस आई सामराक्कोडी लिखते हैं कि- "ये मेरा पहला प्रयोगवादी नाटक है जिसमें मैंने मुखौटों का इस्तेमाल किया है। पंद्रह चरित्रों के लिए पंद्रह मुखौटे रखे गए हैं जिन्हें तीन अभिनेता मंच पर उतारते हैं क्योंकि नाटक के तीन अभिनेता पंद्रह किरदार निभा रहे हैं तो वो पैंतीस बार अपने मुखौटे बदलते हैं।"

मोहन राकेश कृत आधे-अधूरे नाटक में भी यह बताया गया है कि सावित्री महेंद्रनाथ एवं अन्य तीन पुरुषों से मिलती है वे सब उसे अधूरे लगते हैं। वह किसी में संपूर्णता नहीं देख पाती। वह कहती है– "अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही!"

इसके अतिरिक्त धर्मवीर भारती कृत 'अंधायुग' नाटक के तृतीय अंक में कौवे और उल्लू के मुखौटे का प्रयोग हुआ है। मोहन राकेश द्वारा रचित नाटक में भी हरिण-शावक के लिए मुखौटे का प्रयोग ही किया होगा।

लोक नाट्य जैसे दशहरे पर लगने वाले मेलों में रामायण के मंचन में सभी अभिनेता एक अलग किरदार में नजर आते हैं जिसमें वे रावण, हनुमान आदि का रोल करने के लिए मुखौटे का प्रयोग करते हैं। जिसमें वे अमूर्त को मूर्त रूप देते दिखाई पड़ते हैं। लोक नाट्य के संदर्भ में पृथ्वीराज कपूर लिखते हैं– "लोक-नाट्य, लोक मानस की अनुकरण मूलक प्रवृत्तियों का सहज प्रतिरूप कहा जा सकता है। पोथी ज्ञान और नागरिक सभ्यता से दूर पला हुआ लोक मानव जब देवी-देवता, भूत-प्रेत, राजा-रानी, जमींदार-साहूकार आदि की नकलें उतारता है, चेहरे पर मुखौटे लगाकर या चुना कालिख पोत कर उनके स्वांग रचता है। तब लोक नाट्य एक अनगढ़ रूप में जन्म लेता है, और कालांतर में परंपरा पोषण द्वारा लोक रंजन की स्थाई निधि बन जाता है।"

लोक में नौटंकी भी काफी प्रचलित है, नौटंकी में भी मुखौटे का प्रयोग किया जाता है।

नौटंकी, बेंगलोर

चित्र-8 (नौटंकी में मुखौटे का प्रयोग)

नाटकों में मुखौटे का बहुत महत्व है जिसे निम्नलिखित बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है–

- मुखौटे के माध्यम से मानव ही नहीं, अपितु मानवेत्तर प्राणियों जैसे–पशु पक्षियों के किरदारों को भी रंगमंच पर दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है।
- इसके साथ–साथ एक ही व्यक्ति कई देवी–देवताओं के मुखौटे का प्रयोग कर रंगमंच पर आकर प्रदर्शित कर सकता है।
- मुखौटा केवल पात्रों की पहचान ही नहीं कराता अपितु उसके चरित्र की गहराई को भी स्पष्ट करता है।
- मुखौटे रंगमंच पर भिन्न–भिन्न भावों, विचारों और संवेदना को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि मुखौटा एक ऐसा आवरण है जो वास्तविक भाव को छुपाकर एक नई भाव–भंगिमा को मुखौटे के माध्यम से ग्रहण करता है। मुखौटा–कला प्राचीनकाल से चली आ रही है और वैश्विक स्तर पर हमारी सभ्यता और संस्कृति का महत्वपूर्ण तत्व है तथा रोजगार के लिए भी बहुत उपयोगी है। इसके विविध आयाम हैं। इसका प्रयोग विशेष रूप से रंगमंच और लोकनृत्य में किया जाता है इसके अतिरिक्त लोकनाट्य में, भिन्न–भिन्न उत्सवों में, शिकार करने के लिए, धार्मिक कर्मकांड के लिए, कृषि आदि के लिए भी यह बहुत महत्वपूर्ण है। वास्तुशास्त्र के अनुसार मुखौटे का प्रयोग घर की सजावट और समृद्धि के लिए भी किया जाता है।

सहायक ग्रंथ

- चतुर्वेदी, प. सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964
- तनेजा, जयदेव, आधुनिक भारतीय रंगलोक, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2006
- सिंह, डॉ. योगेंद्र प्रताप, भारतीय भाषाओं में रामकथा : असमिया, भाषा–2,
- सिंह, डॉ. योगेंद्र प्रताप, भारतीय भाषाओं में रामकथा : असमिया, भाषा–1, वाणी प्रकाशन, 2016
- महतो, भुवनेश्वर, हिंदी एकांकी का रंगमंचीय अनुशीलन, अन्नपूर्णा प्रकाशन।
- नसीम, कमल, ग्रीकनाट्य–कलाकोश, राजकमल प्रकाशन, 2009
- भ्रमर, रवींद्र, हिंदी लोक नाट्य (पृथ्वीराज कपूर अभिनंदन ग्रंथ), पृ. 9
- राकेश, मोहन, आधे अधूरे (नाटक), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2016
- राकेश, मोहन, आषाढ़ का एक दिन, राजपाल एंड संस, 1997
- कर्नाड, गिरीश, अग्नि और बरखा (नाटक), राधाकृष्ण प्रकाशन, 2019
- भारती, धर्मवीर, अंधायुग, किताब महल, 2016

पत्रिकाएँ

- प्रवाह पत्रिका, दिसंबर 2018–फरवरी 2018, अंक–35
- अभिनव इमरोज, सितंबर–2019, अंक–9

विभिन्न चित्रों के संदर्भ

- चित्र–1 चतुर्वेदी, प. सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964
- चित्र–2 चतुर्वेदी, प. सीताराम, भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, हिंदी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, 1964
- चित्र–3 https://www-jagran-com/punjab/chandigarh-masks-made-their-identity-19997978-html
- fp=k&4 https://statemediaservice.com/tribal-dance-3/
- चित्र–5 https://m.jagran.com/lite/bihar/gaya-start-dance-19945796-html
- चित्र–6 https://artsandculture-google-com/exhibit/%E0%A 4%B0 %E0 %A4 %82 %E 0%A4%97%E0%A 5%80% E 0 %A 4%A 8&%E0%A 4%9A %E0%A 5%87 %E0%A 4%B0%E0%A 4%BF%E0%A 4%A F%E0%A 4%B2&% E0%A 4%A E%E0%A 5%81%E0%A 4%96%E0%A 5%8C%E0%A 4%9F%E0%A 5%87-dastkari-haat-samiti/uA LSuSD-UCc-Iw\hl¾hi
- चित्र–7 https://artsandculture-google-com/exhibit/%E0%A 4%B0%E0%A 4%82 %E0 %A 4%97% E0%A 5%80% E0%A 4%A 8&%E0%4%9A%E0%A 5%87%E0%A 4%B0%E0%A 4%BF%E0%A 4%A F% E0%A 4%B2& %E0%A 4%A E%E0%A 5%81%E0%A 4%96%E0%A 5%8C % E 0 %A 4%9F%E0%A 5%87-dastkari-haat - samiti/ uA LSuSD-UCc-Iw\hl¾hi
- चित्र–8 https://m-bharatdiscovery-org/india/%E0%A 4%A 8%E0%A 5% 8C% E0 %A 4%9F%E0%A 4%82%E0%A 4% 95%E0%A 5%80\page¾3

मीनाक्षी

शोधार्थी, हिंदी विभाग,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

श्रीमंत शंकरदेव के नाटकों में मुखौटा-कला

पुरबी कलिता

मध्यकालीन भक्त शिरोमणि महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव ने संपूर्ण उत्तर पूर्वांचल में भक्ति आंदोलन के नारों का प्रचार करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने असम की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों के बीच लोगों को भक्ति का संदेश दिया था। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम समय की बात है। उस समय असम पिछड़ा हुआ था। धर्म के नाम पर सर्वत्र अधर्म फैला हुआ था। ऊँच-नीच के भेद-भाव से समाज ग्रस्त था। अनीति, अत्याचार से ग्रसित उस समाज में ही महापुरुष शंकरदेव हमारे बीच आए। उन्हें हम जगत गुरु के रुप में स्वीकारते हैं। महापुरुष शंकरदेव बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे-समाज सुधारक, धर्म प्रचारक, साहित्यकार, गायक, नृत्य विशारद। सिर्फ वे ही नहीं, समाज जीवन का एक भी वैसा क्षेत्र नहीं रहा, जहाँ उनकी दृष्टि नहीं गई। एक संपूर्ण मानव के रुप में आप आए, चँहु दिशाओं में विरल छाप छोड़कर चले गए।

वैचित्र्यमय भारतवर्ष में विचित्रताओं के बीच भी एकता नजर आती है। शंकरदेव को यह बात अच्छी तरह मालूम थी। भारत की तरक्की के लिए इन विचित्रताओं को कायम रखना है। ऐसा एक सहज-सरल सर्वग्राह्य धर्म का उन्होंने प्रचार किया, जिसको सब लोग अपने-अपने अस्तित्व को, अपनेपन को, विचित्रता को कायम रखते हुए ग्रहण कर सके। संस्कृत में लिखित कठिन शास्त्रों के कठिन तत्वों को, दर्शनों को सरलीकृत कर एक सामान्य सहज मार्ग-एकशरण नाम धर्म का प्रचार किया। इसी सहज-सरल धर्म के सूत्र से सबको बांधकर एक सर्वभारतीय भक्ति आंदोलन के झंडे के नीचे खड़ा कर दिया।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के समय में मानव समाज के सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में जो पंगुता आयी थी तथा अंध-विश्वास एवं दुस्कृति ने जिस तरह उसे घेर लिया था उसे दूर कर एक स्वच्छ, संस्कारयुक्त जीवन देने के लिए इन्होंने जीवन भर प्रयत्न किया। श्रीमंत शंकरदेव ने इन सबके विरोध में आवाज उठाने के लिए श्रव्य काव्य के साथ-साथ दृश्य काव्य का भी सहारा लिया। इन्होंने नाटक, गीत रचना कर अभिनय भी किया और कराया था, जिनके माध्यम से मानव मन को आसानी से आकर्षित तथा प्रभावित किया जा सकता है।

महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव की नाट्य यात्रा प्रारंभ होती है पहली बार तीर्थ यात्रा से लौटने के पश्चात। तीर्थ से लौटने के बाद अपने लोगों ने उनसे भागवत भक्ति का महत्व सुना तो उनके प्रति आग्रह को देखते हुए उन्होंने 'चिह्न यात्रा' नामक नाटक को अभिनीत करने का निर्णय लिया, जिसे उन्होंने चिह्न के यानी पर्दों के जरिए सात दिन सात रात तक दिखाया। कहा जाता है कि इन दिनों लोग अपनी सुध-बुध खोकर इसे देख रहे थे-

"नजानिले सभासदे किवा रात्रि दिन।
देखि वैकुन्ठक येन पात भैल क्षीण।।
नारीसवे निचिनय कोनजन स्वामी।
सवे हन्ते येहेन भैलन्त मोक्षगामी।।
बालके निचिने कोनजन माव-बाप।
समस्तरे शरीर अतंरिला पाप।।
स्वामीये निचिने एइ मोर भार्या बुलि।
शंकरर मायाये सबाके थैला भुलि।।"[1]

(गुरुचरित-रामचरण ठाकुर)

भाओना (नाटक) एक उच्चमान विशिष्ट संस्कृति है। जहाँ उच्चशिक्षित चिंताविद् के साथ-साथ अशिक्षित तथा जनसाधारण के मन में भगवान के प्रति भक्ति भावना जगाते हैं। श्रीमंत शंकरदेव की भाओना संस्कृति के बारे में संतावली ग्रंथ में लिखा है-

"गायन बायन सबे सभाजय करे।

सूत्र नाट्यगणेरसिकर मन हरे।।
पंडिते बुजिबे श्लोक करिला वचन।
गीत अर्थ बुजिबेक द्बिज सभ्य गन।।
ब्रजावली भाषाक बुजिबे ग्रामीलोक।
छो-मुखा देखिवेक अज्ञ मूढ़ लोक।।
शुद्ध बा अशुद्ध तथापिटो कृष्ण नाम।
एइ सप्तरस नाटकर अनुपम।।"[2]

(संतावली ग्रंथ)

श्रीमंत शंकरदेव ने एक अंक के नाटक रचे थे। एक अंक के नाटक रचने का अन्यतम् कारण यही था कि इन्होंने नाटक की रचना मंचन हेतु की थी और उसके द्वारा वे विष्णु भक्ति का प्रचार करना चाहते थे। इस प्रकार श्रीमंत शंकरदेव ने अपने काव्यों, गीतों तथा नाटकों द्वारा इस भू-भाग में परिव्याप्त अनाचार तथा व्यभिचार को दूर कर एक स्वस्थ-सुंदर समाज का निर्माण करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

श्रीमंत शंकरदेव ने धर्म के प्रति आकर्षित, लोगों के मन में भक्ति भावना तथा आनंद प्रदान करने के लिए नाट्य कला को जन्म दिया था। अपने नाटकों में विभिन्न पौराणिक चरित्रों के अभिनय को सजीव रुप देने के लिए उन्होंने मुखौटा-कला का भी सृजन किया था। मुखौटे मनुष्य की कल्पना एवं सृजनात्मकता के उत्कृष्ट नमूने हैं। यह अभिनेता को वह आवश्यक दूरी एवं छिपाव देते हैं, जिसके बिना किसी विशेष बात की अभिव्यक्ति असंभव होती है। गुरुचरित के अनुसार श्रीमंत शंकरदेव के पहले नाटक 'चिह्नयात्रा' में मुखौटा का व्यवहार हुआ था।-

"प्रथमर लक्ष्मी सर्वजयक करिला।
गरुड़र मुखा एरि स्त्री काच लैला।।"[3]

(गुरुचरित-रामचरण ठाकुर)

मुखौटों को बनाने के लिए प्राय: स्थानीय, अति साधारण सामग्री को माध्यम बनाया जाता है। यह सामग्री इस प्रकार है- बांस, बेंत, गोबर, मिट्टी और कपड़ा। मुखौटा बनाने के लिए सबसे पहले कच्चे बांस को 6 से 7 दिनों के लिए पानी में भिगोकर रखा जाता है। ऐसा करने से बांस में लचीलापन आता है और साथ ही बांस के टुकड़ों को कीटों के हमले से बचाया जाता है। उसके बाद बांस को आवश्यकतानुसार विभिन्न खंडों में विभाजित किया जाता है। पतले और लचीले टुकड़ों की सहायता से मुखौटे के प्रारंभिक ढांचे को तैयार किया जाता है। यहाँ प्रत्येक जोड़ पर बेंत की सहायता से ढांचे को गठित किया जाता है। मूल कंकाल तैयार होने के बाद इस पर सूती कपड़े को गीली और चिकनी मिट्टी में भिगोकर चिपकाया जाता है। उसके बाद इसके ऊपर गोबर और मिट्टी की दूसरी परत चढ़ाई जाती है। मुखौटा सूखने के बाद मुखौटे को उसका वास्तविक रुप दिया जाता है। कलाकार मुखौटे में नाक, कान, आँख, मुँह भृकुटी, मूंछें, दांत आदि का निर्माण करता है और साथ-साथ मुखौटे का चरित्र निर्धारण करता है। चारित्रिक विशेषताओं के अनुरुप मुखौटे को विभिन्न रंगों से रंगा जाता है। पहले मुखौटों की रूपसज्जा के लिए प्राकृतिक रंगों जैसे परंपरागत जातीय हेंगुल, हाइताल, नील और धूल या सफेद मिट्टी आदि का प्रयोग किया जाता है। लेकिन अब प्राकृतिक संसाधनों का कम मात्रा में उपलब्ध होने के कारण वर्तमान में अधिकांशत: कृत्रिम रंगों का उपयोग ही मुखौटों के निर्माण में किया जाता है। कलाकार ने चारित्रिक विशेषताओं के अनुरुप मुखौटे पर रंग से कलाकारी की जाती है। किसी राक्षस या दैत्य-दानव का मुखौटा होगा तो उसके क्रोधित और आवेशित भावों को कलाकार उकेरता है। इसी तरह किसी पक्षी, देव-देवी के मुखौटे को उसकी भावभंगिमाओं के अनुसार रुप दिया जाता है।

मुखौटे मुख्य रूप से तीन प्रकार के बनाये जाते हैं-1. छो मुखौटा, 2. लोटोकाइ मुखौटा, 3. मुख मुखौटा।

छो मुखौटा सर्वसाधारण से बहुत ज्यादा बड़ा होता है। रावण, कुम्भकरण, वाणराजा, नरकासुर, नरसिंह आदि चरित्र के लिए इस प्रकार का मुखौटा बनाया जाता है। गुरु चरित के अनुसार, महापुरुष शंकरदेव ने अपना पहला नाटक 'चिह्नयात्रा' में छो मुखौटा का व्यवहार किया था। छो मुखौटा दो प्रकार से बनाया जाता है-1. लौकिक मुखौटा, 2. अलौकिक मुखौटा।

प्रकृति में उपलब्ध कुछ प्राणियों की आकृति के अनुरुप बनाए गये मुखौटे को लौकिक मुखौटा कहते हैं। इसके विपरीत जो हमने कभी प्रकृति में देखा ही नहीं, सिर्फ कल्पना कर सकती हूँ, उसे अलौकिक मुखौटा कहते हैं।

लोटोकाइ मुखौटा छो मुखौटा से छोटा होता है। पूतना राक्षसी, तारका, यक्ष, शंखचूड़, गरुड़, जटायु, अघासुर आदि चरित्रों में इस प्रकार के मुखौटा का व्यवहार किया जाता है। शरीर के अंगों जैसे- हाथ, पांव, मुँह, आँखों

को ध्यान में रखकर इनका निर्माण होता है।

मुख मुखौटा में सिर्फ चेहरे को ढकते हैं। हनुमान, बालि, सीता, मारीच, सुबाहु, कंस आदि चरित्र में इस प्रकार के मुखौटा का व्यवहार किया जाता है।

सत्र और माजुली, ये दो शब्द एक दूसरे से जोड़ा हुआ है, "Satra and Majuli are the two terms equivalent to the obverse and reverse of a coin - Indeed, Majuli is understood in terms of its Satras. Its society, culture and ever its economy are largely to be viewed in the conteñt of its being a land of the Vaishnava monasteries called Satra."[4]

असम में माजुली, ही ऐसी जगह है, जहाँ नववैष्णव धर्म की कला संस्कृति सुरक्षित रह सकते हैं। इसलिए उस समय के धर्म गुरु तथा धर्म के प्रति आस्था रखने वाले आहोम राजा भी माजुली में सत्र स्थापना करने के लिए उत्साहित हुआ करते थे। "The geographical isolation has made it an ideal place for religious preachers and has made it a spot for meditation of rishi&sanyasis- This was possibility the major reason as to why did the Ahom Kings selected the site for establishment of the great Vaishnava monastries—Auniati, Dakshinpat and Garamur and many other coming later on."[5] मुखौटा-कला के क्षेत्र में माजुली का सामागुरी सत्र विश्व प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त श्रीश्री एलेङी नरसिंह सत्र, नतुन कमलाबाड़ी सत्र, विहिमपुर सत्र में भी परंपरागत मुखौटा निर्माण का कार्य जारी है। माजुली में निर्मित इन मुखौटों की मांग विदेशों में भी है। सामागुरी सत्र सर्वाधिक पुराना सत्र है। यहाँ पर मुखौटा-कलाकारों की एक लंबी परंपरा रही है। सामागुरी सत्र के सत्राधिकार स्वर्गगामी कुशाकांत गोस्वामी एक प्रसिद्ध मुखौटा-कलाकार थे। सत्राधिकार प्रभु ने सर्वप्रथम मुखौटा-कला को विश्वस्तर पर प्रदर्शन करके भारतीय संस्कृति का मान बढ़ाया था। कुशाकांत गोस्वामी के मार्गदर्शन में कई शिष्यों ने मुखौटा शिल्प की शिक्षा तथा प्रशिक्षण लिया था। कला, संस्कृति के क्षेत्र में उल्लेखनीय अवदान के लिए उनको वर्ष 2003 में संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया था। सामागुरी सत्र को मुखौटा-कला, कई राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित किया जा चुका है।

इस सत्र के गुरुदेव डॉ. हेमचंद्र गोस्वामी एक प्रतिष्ठित कलाकार हैं। हेमचंद्र गोस्वामी के निर्देशन में राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मुखौटा-कला का प्रदर्शन हुआ है। असमिया कला संस्कृति के क्षेत्र में उत्कृष्ट योगदान के लिए वर्ष 2017 में गौहाटी विश्वविद्यालय ने हेमचंद्र गोस्वामी को डॉक्ट्रेट की उपाधि से सम्मानित किया। वर्ष 2018 में हेमचंद्र गोस्वामी को संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार से पुरस्कृत किया गया है। पिछले कई वर्षों से इस महान कला को जीवित रखने के लिए गुरुदेव हेमचंद्र गोस्वामी इस कला का प्रशिक्षण सत्र में शिष्यों और देश-विदेश से आने वाले पर्यटकों को भी दे रहे हैं। ये मुखौटे आज पूरे भारतवर्ष की कला, संस्कृति के उच्चतम नमूने हैं, क्योंकि इस कला के माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक निरंतरता को भी विश्वस्तर पर पहचान मिल रही है। माजुली में निर्मित मुखौटा-कला, ब्रिटिश संग्रहालय में दर्शकों के लिए आकर्षण का केंद्र हैं। प्रतिवर्ष विदेशों से इस कला का प्रशिक्षण लेने हेतु पर्यटकों भी आते हैं। माजुली में निर्मित मुखौटे भाओना (नाटक) के अतिरिक्त असम के विभिन्न लोकानुष्ठानों एवं त्योहारों पर भी पहने जाते हैं। जैसे-भारीगानर मुखौटा, तिया जनजाति की परंपरागत पूजा-पाठ में व्यवहार किया मुखौटा, धुबुरी -गोवालपारा अंचल में प्रचलित कालीचंदी पूजा और नृत्य में व्यवहार किया मुखौटा आदि।

वर्तमान समय में मुखौटा-कला के प्रशिक्षण के साथ-साथ इसका संरक्षण भी हुआ है। इस महान कार्य में असम के चित्रकला महाविद्यालय, कलाक्षेत्र, रबीन्द्र भवन आदि ने भी अपना योगदान दिया है, लेकिन यह पर्याप्त नहीं है। संरक्षण जैसे कठिन कार्य को सफल बनाने के लिए सरकार का संपूर्ण सहयोग आवश्यक है।

निष्कर्ष: मुखौटा एक अभिनव शिल्प है जो एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को छिपाकर उसे भिन्न रुप में उपस्थापित कर देता है। असम में श्रीमंत शंकरदेव ने मुखौटा को एक विशेष मर्यादा प्रदान कर उसे एक विशिष्ट कला के रुप में प्रतिस्थापित किया। 'चिह्नयात्रा' नाटक के जरिये गुरुदेव ने पहली बार कला के क्षेत्र में मुखौटे का प्रयोग किया था। समय की मांग को ध्यान में रखकर किये गए इस प्रयास से सत्र संस्कृति, सत्रों के आध्यात्मिक पहलू तथा मुखौटा-कला को आज विश्व दरबार में स्वीकृति मिली है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. ठाकुर, रामचरण : 'गुरु चरित', प्रकाशक दत्तबरुवा, संस्करण: को. 2007, पृ. 302
2. शर्मा, डॉ. बसंत कुमार (प्रबंध) : 'अंकिया भाओनार जनप्रियता',

‘असमर लोक-नाट्य आरु अंकिया भाओना’, (संपा) सैकिया डॉ. अजित, बर ठाकुर डॉ. सत्यकाम, असम साहित्य सभा, 2010, पृ. 85

3. ठाकुर, रामचरण : ‘गुरु चरित’, प्रकाशक दत्तबरुवा, संस्करण, 2007, पृ. 304
4. नाथ, डॉ. डम्बरुधर (प्रबंध): ‘Majuli Island : An Intro duction’, ‘माजुली’, पृ. 10
5. शर्मा, तीर्थनाथ : ‘आउनीआटी सत्र बुरंजी’, 2004, पृ. 83

सहायक ग्रंथ

1. नाथ जीवकांत, चौहान रामजीतन (संपा) : ‘भक्ति आंदोलन और राष्ट्रीय एकता’, मरिगांव महाविद्यालय, मरिगांव, संस्करण, 2010
2. प्रो. चंदन कुमार (संपा): ‘प्राग्ज्योतिका’, अंक 2, जनवरी-मार्च, 2021
3. सैकिया डॉ. अजित, बर ठाकुर डॉ. सत्यकाम (संपा): ‘असमर लोक-नाट्य आरु अंकिया भाओना’, प्रकाशक असम साहित्य सभा, संस्करण, 2010
4. सैकिया शैलेन (संपा) : ‘सूत्रधार’, नगांव भाओना समारोह, 2021
5. बरुवा मृणाल कुमार, देउरजा मनोज कुमार (संपा): ‘कृष्ण-कथामृत’, श्रीमंत शंकरदेव संघ 88 संख्यक वार्षिक अधिवेशन, 2019
6. सैकिया डॉ. देवजित (संपा): ‘रस-तरंगिणी’, स्मारक -ग्रंथ, असम भाओना समारोह 2012, श्रीश्री आउनीआटी सत्र, माजुली।

- पुरबी कलिता
शोधार्थी, हिंदी विभाग,
असम विश्वविद्यालय, सिलचर, असम

❍❍❍

अक्षर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स

एल-9ए, गली नं. 42,
सादतपुर एक्सटेंशन, दिल्ली-110090
E-mail : apdbooks@hotmail.com
फोन नं. : 09999803921, 9711255121